बुद्ध-चरित्र

संपादक

श्रीदुलारेलाल भार्गव
(माधुरी-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का छत्तीसवाँ पुष्प

बुद्ध-चरित्र

(सचित्र नाटक)

मूल-लेखक
गिरिशचंद्र घोष

अनुवादकर्ता
रूपनारायण पांडेय कविरत्न
(माधुरी-संपादक)

प्रकाशक
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
२६-३०, अमीनाबाद-पार्क
लखनऊ

प्रथमावृत्ति

रेशमी जि० १1)] सं० १६८१ वि० [सादी 111)

प्रकाशक
श्रीछोटेलाल भार्गव बी० एस्-सी०, एल्-एल्० बी०
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीकेसरीदास सेठ
नवलकिशोर-प्रेस
लखनऊ
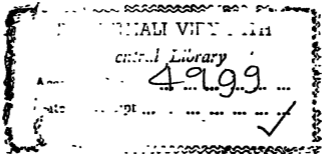
वक्तव्य

स्वनामधन्य, स्वर्गीय श्रीयुत गिरिशचंद्र घोष की प्रतिभा प्रशंसनीय थी। उन्होंने वंग-देश के रंगमंच के लिये बहुत-से सामाजिक, ऐतिहासिक और धार्मिक नाटक लिखे; और उनमें से अधिकांश नाटक जनता को पसंद भी आए। गिरिश बाबू की प्रतिभा का परिचय हिंदी-भाषा-भाषियों को भी प्राप्त हो चुका है—गिरिश बाबू के कई उत्कृष्ट नाटकों का हिंदी-अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। यह बुद्ध-चरित्र-नाटक भी गिरिश बाबू के लिखे उत्कृष्ट नाटकों में से एक है। भगवान् बुद्धदेव को सनातनधर्मी हिंदू भी अपना पूज्य मानते हैं; और उनके द्वारा प्रचारित "अहिंसा परमो धर्मः" का तो यह युग ही देख पड़ता है। इस दृष्टि से इस नाटक का हिंदी-अनुवाद प्रकाशित करना सामयिक कार्य माना जाना चाहिए। आशा है, इस अहिंसा के युग में अहिंसा-प्रचारक भगवान् बुद्धदेव के चरित्र से संबंध रखनेवाले इस नाटक का यथेष्ट आदर और प्रचार होगा।

हमने पुस्तक का सौंदर्य बढ़ाने के लिये इसमें कई सुंदर चित्र भी दे दिए हैं। यद्यपि सचित्र प्रकाशित करने में व्यय अधिक हुआ है, पर हमने उपयोगिता और सौंदर्य की वृद्धि के विचार से सचित्र संस्करण निकालना ही उचित समझा। सचित्र होने पर भी पुस्तक का मूल्य यथासंभव ठीक ही रक्खा गया है। हमें विश्वास है कि गंगा-पुस्तकमाला की अन्यान्य पुस्तकों के समान यह नाटक भी हिंदी-जगत् में आदर प्राप्त करेगा।

श्रीदुलारेलाल भार्गव
संपादक

समर्पण

एडविन् आर्नल्ड एम्० ए०, एफ्० आर० जी० एस्०, एफ्० आर० ए० एस्०, सी० एस्० आई०

कविवर,

आपके जगत्प्रसिद्ध लाइट् ऑफ् एशिया (Light of Asia)-नामक काव्य के आधार पर मैंने इस ग्रंथ की रचना की है। महोदय, मैं कृतज्ञता-पूर्वक यह आप ही की वस्तु आपको सादर समर्पण करता हूँ। ग्रहण कीजिए।

बाग़बाज़ार, कलकत्ता ;
१ वैशाख, १३१२ साल (बंगाब्द)

ऋणी—
गिरिशचंद्र घोष

नाटक के पात्र

पुरुष

विष्णु भगवान्			
शुद्धोदन	...	...	कपिलवास्तु के राजा
सिद्धार्थ (बुद्धदेव)		...	शुद्धोदन के पुत्र
राहुल	...	...	सिद्धार्थ के पुत्र
छंदक	...	...	सारथी
श्रीकालदेवल	...	...	शाक्य-कुल के हितैषी ऋषि
नालक	...	...	श्रीकालदेवल के भांजे
बिंबिसार	...	...	मगध-देश के राजा
काश्यप	...	...	एक मुनि

स्त्री

दया			
गौतमी	...	...	छोटी रानी
महामाया	...	...	सिद्धार्थ की माता
गोपा	...	...	सिद्धार्थ की स्त्री
सुजाता	...	...	एक बनिए की स्त्री
पूर्णा	...	...	सुजाता की सखी

मंत्री, मुसाहब, दो ज्योतिषी, राजदूत लोग, मंत्री, वृद्ध, रोगी, संन्यासी, पंडित, दो शिष्य, दो पुरोहित, चरवाहा, डाकू लोग, बनिया, ब्राह्मण, धाय, पुत्र-वियोगिनी रमणी, देव-देवियाँ, सिद्ध-चारण-गण, मार (कामदेव), संशय, कुसंस्कार, आत्मबोध, प्रवृत्ति, विघ्न करनेवाले, दो देववाला इत्यादि ।

- भगवान् बुद्धदेव -

A 4208 Lakshmi Art, Bombay, 8

बुद्ध-चारित्र

[नाटक]

सूचना

स्थान—गोलोकधाम

(लीला कमल हाथ में लिए विष्णु बैठे हैं;—
सामने हाथ जोड़े दया खड़ी है)

दया—हे सृष्टिकर्ता सनातन प्रभु, आपने हृदय-कमल से मुझे उत्पन्न किया। मैं पृथ्वीतल में मनुष्यों के हृदय में रहती और विचरती हूँ। अब तक कुछ यंत्रणा नहीं थी; किंतु अब प्रभो, दारुण ताड़ना मिल रही है। अब तो नहीं सहा जाता! देखिए, मेरा कलेवर जीर्ण-शीर्ण हो रहा है। निष्ठुरता धर्म के नाम पर पूजी जा रही है। आप ही बताइए नाथ, अब मैं कहाँ रहूँ? मनुष्य-हृदय पर निष्ठुरता का पूर्ण अधिकार हो रहा है। जिनकी स्थापना के लिये आपने बारंबार अवतार लिए हैं, जिनके हृदय में मेरा विकास था, वे ब्राह्मण ही इस समय मेरे विरोधी हो रहे हैं। वे मनुष्यों को युक्ति-पूर्वक उपदेश देते हैं कि शास्त्र में देव-भक्तों के लिये बलिदान का

विधान है। भगवन्, देव-पूजा में नित्य करोड़ों जीवों का वध होता है। दिन-रात मुझे शांति नहीं ; हर घड़ी मेरा हृदय विकल रहता है। धर्म का छल या बहाना करके जीवों की हत्या होती है। निष्ठुरता ने अधिकार जमाकर पृथ्वी पर निष्ठुर कर्म-कांड का प्रचार कर रक्खा है। कोटि वज्रपात के शब्द से भी विकट हाहाकार मेरे हृदय में उठ रहा है। सुनिए, प्राणियों के समूह आर्तनाद कर रहे हैं। तीक्ष्ण तलवार ताने सामने घातक खड़ा है। वलि का प्राणी प्राण-भय से आँखों में आँसू भरे मेरे मुँह की ओर ताक रहा है। परंतु निष्ठुर मनुष्य मेरी वात नहीं सुनता। हे लक्ष्मीनाथ! मेरी क्या गति होगी? मैंने भय के मारे विह्वल होकर श्रीचरणों का आश्रय लिया है।

विष्णु—मैं जानता हूँ, तुमने वहुत वेदना पाई है। हे देवी, मैं जानता हूँ, मनुष्यों की करतूत से इस समय मर्त्यलोक में तुम वेचैन हो रही हो। किंतु चिंता दूर करो ; मैं फिर मनुष्य-शरीर धारण करके पृथ्वी पर अवतार लूँगा। मेरी यह वासना तारा का आकार रखकर शुद्ध-बुद्धि नारी के गर्भ में प्रवेश कर चुकी है। उसमें आकार का संचार होगा, और उस आकार से मैं अवतार लूँगा, मनुष्यों के साथ विहार करूँगा। मेरे उद्योग और उपदेश से यज्ञशाला में प्राणियों का वध बंद हो जायगा।

दया—हे अंतर्यामी, मेरे पिता, आपके फिर अवतार लेने

की बात सुनकर मेरे हृदय में भय का संचार हो रहा है। हे हरि, ब्राह्मण की वेदना और कष्ट हरने के लिये अवतार लेकर, परशु हाथ में लेकर, आपने महाहाहाकार मचा दिया, इक्कीस वार क्षत्रियों का सर्वसंहार किया। देखकर मेरा हृदय व्याकुल हो उठा, आँसुओं की झड़ी लग गई! हाय, पतियों के मारे जाने पर राजरानी क्षत्रिय-रमणियाँ, जिन्हें कभी सूर्य और चंद्र ने भी नहीं देखा था, पेट पालने के लिये द्वार-द्वार फ़क़ीरनी-सी भीख माँगती फिरीं! उसके बाद, हे हरि, फिर भयानक धनुष धारण करके आपने रामावतार में लंका पर चढ़ाई की। वहाँ भी भीषण युद्ध ठानकर हाहाकार मचा दिया। राक्षसों के रक्त से त्रिकूट-पर्वत भर गया। एक भी राक्षस जीता नहीं बचा। फिर द्वापर-युग में, हे चक्रपाणि, आपने कृष्णावतार लेकर प्रसिद्ध महाभारत-युद्ध रचाया, अर्जुन के सारथी बनकर अठारह अक्षौहिणी सेना का संहार कराया। उस दुर्घटना से भी मेरे हृदय के ऊपर जैसे वज्रपात हुआ! आह, शोक से व्याकुल कौरव-कुल की कामिनियों के विलाप और आर्तनाद ने आकाश को गुँजा दिया था। हे प्रभु, आपने अपने कुल (यादव-वंश) का भी परस्पर विनाश कराकर यादव-पत्नियों को रुलाया! इन सब पहली बातों के स्मरण से भय के मारे मेरा कलेवर काँप रहा है। हे नाथ, आपके अवतार लेने की बात सुनते ही मैं चिंतित हो उठी

हूँ कि अब की अवतार में न-जाने कितने कोटि कुलों की ललनाएँ रोवेंगी ! हे जगत् के स्वामी, इस दासी पर कृपा करिए, अब फिर अवतार लेने की जरूरत नहीं है । मुझे आज्ञा दीजिए, मैं आपके हृदय में आकर लीन हो जाऊँ ।

विष्णु—दया, तुम भय और शंका का त्याग करो । इस युग के प्रयोजन को समझो । मैं इस समय पृथ्वी पर दया का राज्य स्थापित करूँगा । जो लोग ठीक राह से भटककर हिंसा का आश्रय ग्रहण किए हुए हैं, वे जिसमें अहिंसा का व्रत धारण करें, वही मैं करूँगा । ब्राह्मण लोग विद्या के घमंड में चूर होकर अविद्या की पूजा कर रहे हैं । मैं विद्या के ही बल से उस घमंड को मिटाऊँगा ; अन्य बल से काम नहीं लूँगा ।

दया—प्रभु, मेरे संशय को दूर करिए । हे श्रीनिवास, आप समय-समय पर भिन्न-भिन्न बलों से क्यों काम लेते हैं ?

विष्णु—जब प्रलय-सागर के जल ने सृष्टि को ढक लिया था, घोर गर्जन के साथ प्रलय करनेवाली लहरें उठ रही थीं, और घोर आँधी चल रही थी, उस समय अगर कोई उस दृश्य को देखता, तो कभी न सोचता कि यह पृथ्वी फिर कभी सृष्टि से हरी-भरी होगी । उस समय कौतूहल-पूर्वक महामत्स्य का रूप रखकर महासागर में मैंने विचरण किया । प्रलय-सागर में हलचल मच गई, मेरी पूँछ के प्रहार से सागर की बड़ी-बड़ी लहरें थपेड़ें खाती थीं । अंत को प्रलय का

दृश्य समाप्त हुआ। वह जल फिर जीवों से पूर्ण हुआ, और उसी जल पर सृष्टि की स्थापना हुई। हे कल्याणी, इस तरह असंख्य जलचर जंतुओं के साथ मैंने जल में विचरण और मत्स्य-अवतार के द्वारा वेदों का उद्धार किया। उसके बाद, अन्य समय, सागर के भीतर, मैं कच्छप के रूप से प्रकट हुआ। पीठ पर मंदराचल-सहित पृथ्वी को धारण किया। फिर वाराह-अवतार लेकर प्रलयकाल में दाँत पर पृथ्वी को उठाकर सागरतल से ऊपर लाया। हे पुत्री, फिर त्रिलोक और चौदह भुवन की रचना हुई। उस समय कौन जानता था कि फिर इस सृष्टि का विनाश संभव है? उसके उपरांत दैत्यगण तप करके बली हुए। उनके प्रताप से व्याकुल देवगण भय के मारे काँपने लगे। देवगण स्वर्ग से भाग गए, और किसी तरह दैत्यों को हरा नहीं सके। तब उन्हें उनका अधिकार दिलाने के लिये मैंने भयानक नृसिंह-रूप धारण किया।

दया—प्रभु, मैं आपकी नर-लीला सुनना चाहती हूँ। हे नारायण, आप समय-समय पर मनुष्य-शरीर धारण करके पृथ्वी पर क्यों विचरते हैं? आपके किस अवतार में किस बल का प्रयोजन हुआ? हे निरंजन, मैं यह सब सुनने के लिये अत्यंत उत्कंठित हो रही हूँ। मैंने प्रलयकाल का सागर नहीं देखा, और इसी कारण प्रलयसागर में आपने जो लीलाएँ

की हैं, उन्हें मैं समझ नहीं सकती। मैं नर-देह में निवास करती और मनुष्यों के चरित्र को अच्छी तरह जानती हूँ। इसलिये अपनी नर-लीला का हाल कहिए। आपने मनुष्य-शरीर धारण कर मनुष्यों में रहकर किस तरह नर-लीला की है?

विष्णु—हे भाग्यशालिनी, तुम जानती हो कि मैं दान से अत्यंत प्रसन्न होता हूँ। दैत्यों ने वही दान करना सीखकर, उसी के प्रभाव से, देवतों को हराया, और आप दुर्जय हो उठे। उनका वैभव और ऐश्वर्य दिन-दिन बढ़ने लगा। दान-बल से देह में अधर्म-संचार न होने के कारण मैं दैत्यों का संहार करने में असमर्थ था। देवगण रोते थे; पर उनका दुःख नहीं दूर होता था। तब मैंने वामन अवतार लिया। तुम जानती हो, मैंने राजा बलि के पास जाकर उनसे तीन पग पृथ्वी माँगी। इस तरह छल से दैत्यों का राज्य और अधिकार हरकर पुरंदर को दिया। दाता का गौरव बढ़ाने के लिये ही मैं बलि के द्वार पर गया, और उनसे भिक्षा माँगी। किंतु अपने फंदे में मैं आप ही फँस गया—पाताल में राजा बलि के द्वार पर द्वारपाल होकर रहा। हे दया, उसके बाद फिर अवतार का प्रयोजन हुआ। क्षत्रियगण बड़े वीर्यशाली, बली होकर दिन-रात दीन-हीन ब्राह्मणों को सताने लगे। तुमको तो मालूम है। तुम ब्राह्मणों का दुःख देखकर रोया करती थीं। उस समय मैं ब्राह्मण-कुमार के रूप से

पृथ्वी पर उत्पन्न हुआ। मैंने पिता जमदग्नि की आज्ञा से हृदय कठिन करके माता रेणुका का वध किया। उसके बाद अनेक वार दुष्ट क्षत्रियों को मारकर निःशेष कर डाला— बालक या वृद्ध, किसी को नहीं छोड़ा। इस तरह हृदय को निर्दय बनाकर मैंने अपनी माता को, गर्भस्थित बालकों तक को, कठोर कुठार से काट डाला। वह मेरा अवतार केवल संहार के लिये हुआ था। हे सुंदरी, फिर त्रेता-युग में मदांध राक्षसराज लंकापति रावण का अभ्युदय हुआ। देवता, नाग, नर, सब उसके डर से थर-थर काँपने लगे। वह महादुराचारी राक्षस पराई स्त्रियों को हर ले जाता था, ब्राह्मणों के उपदेश की अवहेला करता था। तब मैंने राम-नाम से पृथ्वी पर अवतार लिया, जटाजूट-वल्कल धारण करके वन में विहार किया। बाल्यकाल में पिता ने प्रेम-पूर्वक मेरा पालन किया। युवावस्था के आरंभ में ही मैं प्रेममूर्ति, प्राणप्रिय भाई लक्ष्मण के साथ वन को गया। मेरे साथ ही सुकुमारी जानकी भी वन को सिधारीं। वन में रावण आकर सीता को हर ले गया। मैंने सीता के विरह में बहुत विलाप किया, वन-वन भटककर कठिन कष्ट सहे। फिर वानरों के साथ जाकर लंका पर चढ़ाई की, और लंकापति को मारकर अपने दर्पहारी नाम को सार्थक किया। उसके उपरांत द्वापर में फिर क्षत्रियों का बल बहुत बढ़ गया।

बली क्षत्रिय भट ब्रह्मा, नारायण, शिव आदि के अमोघ अस्त्र पाकर परस्पर भिड़ने लगे। उनके विग्रह से प्रजा को कष्ट मिलने लगा। उनके बाणों की प्रचंड अग्नि त्रिभुवन को भस्मीभूत करने लगी। दीन प्रजागण मेरा स्मरण करते और हर घड़ी रोते थे। तब मैं दीनबंधु कंस के कारागार में कृष्ण-रूप से अवतीर्ण हुआ। व्रजधाम में दीन ग्वाल-बालों के साथ रहकर मैंने दीनों के दुःख का पूर्ण अनुभव किया। अंत को दीनों की दुर्गति दूर करने के लिये हाथ में चक्र लिए मैं कर्मक्षेत्र में उतर पड़ा—भू-भार उतारने के लिये महाभारत ठनवा दिया। कभी सारथी और कभी रथी होकर सभी दुष्टों का संहार कर डाला। धर्मराज का एकच्छत्र राज्य स्थापित हुआ। सब प्रजा ने शांति पाई।

दया—हे हृषीकेश, विशेष रूप से कहकर समझाइए। मुझ हीनमति अबला की समझ में नहीं आता कि आप शस्त्र-धारण किए बिना कैसे उस निष्ठुरता का दमन करेंगे, जो पृथ्वी पर फैल रही है? कपटाचारी ब्राह्मण किस तरह आपका शासन मानेंगे? हे हरि, मैं डरती हूँ कि कहीं क्रोध करके आप फिर न अस्त्र-शस्त्र धारण कर लें, और सबका संहार करने लगें!

विष्णु—हे देवी, ब्राह्मण विद्या के मद से मत्त हो रहे हैं, उनका शासन शस्त्र-बल से नहीं होगा। मैं विद्या के ही

बल से उस दर्प को चूर्ण करूँगा। ठीक राह से भटके हुए लोग ब्राह्मणों के ही उपदेश से धर्म-भय से निष्ठुर आचार (बलिदान) कर रहे हैं । मैं नवीन विधि का प्रचार करके सबके भ्रम को दूर करूँगा। मैं "अहिंसा परमो धर्मः" की उदार घोषणा करूँगा। युक्ति के बल से ब्राह्मणों को विमुख (परास्त) करके ज्ञान-ज्योति का प्रकाश फैलाऊँगा, अज्ञान-तम को मिटाऊँगा। हिंसामूलक यज्ञ आदि कर्म बंद हो जायँगे—अब पृथ्वी पर देव-पूजा में प्राणियों का वध नहीं होगा। सब मनुष्य आत्मा की उन्नति का यत्न करेंगे। सब मानव कर्म से ही कर्म-नाश की आशा करके निर्वाण-पद पाने का प्रयास करेंगे। वे सब काम-क्रोध आदि शत्रुओं का दमन करके सदाचारी होंगे।

दया—हे देव, मुझे एक दारुण संशय है, उसे भी कृपा करके दूर करिए । आपके एक इशारे से सृष्टि-पालन-संहार के काम होते हैं। फिर क्यों आप बार-बार नर-देह धारण करते हैं ? क्यों गर्भवास की यातना सहते हैं ? आप तो केवल इच्छा करके ही सब कुछ कर सकते हैं।

विष्णु—हे दया, सुनो। इस संसार में मैं ही अकेला हूँ। सब कुछ मैं ही हूँ। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सब मैं ही हूँ। मैं माया-बल से अनेक रूप धारण कर लेता हूँ। मैं ही ज्ञान हूँ, मैं ही अज्ञान हूँ। मैं ही मन, हृदय और

प्राण हूँ । मैं ही दया और मैं ही निष्ठुरता हूँ । मैं ही भक्त हूँ, मैं ही ईश्वर हूँ । सब चराचर जगत् और सब वासनाएँ मैं ही हूँ । मैं अद्वितीय ब्रह्म हूँ । माया के योग से एक होकर भी अनेक रूप प्रतीत होता हूँ । तुम मन से भ्रम दूर करो । मेरा विराट् रूप देखो ।

(विराट्-रूप धारण करना)

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान—बाग़ के भीतर देवमंदिर

(नालक और श्रीकालदेवल का प्रवेश)

नालक—मामाजी, पृथ्वीमंडल पर आपकी महिमा अतुल है। यह दास बहुत समय से श्रीचरणों का आश्रय लिए हुए है। हे देव, बताइए, मेरी समझ में नहीं आता, आप मुझे प्रमोद-कानन में क्यों ले आए? हे तात! मैं तो मुक्ति के लिये प्रयत्न करना चाहता था। इस उपवन में मेरी आशा कैसे सफल होगी?

श्रीकाल०—वत्स, मनुष्यों में तुम धन्य हो। योगीजन जिनका ध्यान करते हैं, शंकर प्रेम से जिनका नाम जपते हैं, देवगण जिनके श्रीचरणों की उपासना करते हैं, वही श्री-निवास नारायण भगवान् जन्म लेंगे; इस प्रमोद-कानन में बुद्ध-अवतार होगा।

नालक—हे देव, यह अद्भुत घटना कब होगी? प्रमोद-कानन में नारायण का अवतार होगा! बताइए तो, किस भाग्यवती ने उन्हें अपने गर्भ में धारण किया है?

कौन ऐसा भाग्यशाली पुरुष है, जिसकी संतान स्वयं साक्षात् नारायण होंगे ?

श्रीकाल०—शाक्य-वंश के विभूषण महाराज शुद्धोदन बहुत ही धर्मात्मा और सज्जन पुरुष हैं। उन्हें हर घड़ी पुत्र के लिये चिंता रहती है। पुत्र-प्राप्ति के लिये अनेक यज्ञ-व्रत करने पर भी उनकी इच्छा अभी तक पूर्ण नहीं हुई। श्रीहरि भगवान् उन्हीं पर सदय हुए हैं। उनकी रानी महा-माया के गर्भ से ही बुद्ध-अवतार होगा।

नालक—देव, यह देव-रहस्य आपने कैसे जाना ? कृपा कर यह भी मेरा संशय मिटाइए।

श्रीकाल०—सुनो वत्स, शाक्य-वंश में दक्षिणायन का उत्सव चिरकाल से होता चला आता है। यह प्रसिद्ध उत्सव पूर्णिमा के दिन होता है। राजा और प्रजा, दोनों इस महोत्सव के अवसर पर आनंद में मग्न हो जाते हैं। इस बार के उत्सव में, विलासभवन में, उस दिन महाराज महारानी के साथ रहे। रात के पिछले पहर सोते में महामाया ने यह स्वप्न देखा कि देव-दूतगण उन्हें शय्या-सहित उठाकर यत्न-पूर्वक हिमालय पर्वत पर ले गए। वहाँ एक सुंदर सरोवर था। दूतों ने रानी से प्रार्थना की कि वह पृथ्वी की मलिनता मिटाकर पवित्र होने के लिये उस सरोवर में स्नान कर लें। रानी ने स्नान किया। जैसे आग में तपने से सोना और भी

चमक उठता है, वैसे ही रानी का शरीर दामिनी-सा दमक उठा। तेजोमय उज्ज्वल किरणमंडल के बीच रानी अत्यंत शोभायमान हुई। देव-दूतों ने उन्हें दिव्य वस्त्र और अमूल्य आभूषण दिए। उन्हें धारण करने पर रानी एक विचित्र श्रेष्ठ सिंहासन पर बिठाई गई। इसी समय आकाश से एक तारा टूटा। उसकी विमल किरणों से तीनों लोक प्रकाशित हो उठे। वह मनोहर तारा छः दाँतोंवाले सुंदर हाथी का आकार रखकर, दाँत से रानी की दाहनी कोख विदीर्ण करता हुआ भीतर प्रवेश कर गया। वैसे ही चारों ओर जयजय-कार की ध्वनि होने लगी। सूखे वृक्ष फूल-फल उठे। देवगण पुष्प-वर्षा करने लगे। बज रही देव-दुंदुभियों के शब्द से दसों दिशाएँ परिपूर्ण हो उठीं। रानी ने इतना ही स्वप्न देखा था कि अचानक उनकी नींद उचट गई। रानी ने देखा, उनके घर में एक अद्भुत स्वर्गीय सुगंध भरी हुई है। अस्पष्ट, अपरि-चित मंगल-ध्वनि सुन पड़ने लगी। हृदय आनंद से परिपूर्ण हो उठा। हे वत्स! महाराज शुद्धोदन ने यह सब स्वप्न का हाल सुनाकर मुझसे उसका फल पूछा। मैंने कैलास पर जाकर देवादिदेव महेश्वर से इस स्वप्न का फल बताने के लिये प्रार्थना की। वहाँ शंकर के मुख से मुझे मालूम हुआ कि पृथ्वी पर बुद्ध-अवतार होगा, और यह स्वप्न उसी की पूर्व सूचना है।—वह देखो, राज-कर्मचारी लोग रानी की

पालकी साथ लिए आ रहे हैं। आओ, हम लोग आड़ में हो जायँ।

(दोनों का प्रस्थान)

(रानी, सखियाँ, पालकी के कहार और राजदूत प्रवेश करते हैं)

रानी—सुनो सखी, आज मैं यहीं ठहरूँगी। दूतों से विश्राम करने के लिये कह दो।—आहा! आजकल इस प्रमोद-कानन की कैसी मनोहर शोभा हो रही है! पृथ्वीतल का सारा सौंदर्य यहीं भरा पड़ा है! कोयल, मैना, तोते, पिक आदि पक्षी पुष्प-पराग से सने हुए आनंद में मस्त होकर इधर-उधर विचर रहे और मधुर गान से अपने मन का सुख प्रकट कर रहे हैं। मंद-मंद वसंत-पवन डोल रही और कोमल नव पल्लवों के साथ खेल रही है। देखो, सरोवर का स्वच्छ जल धीरे-धीरे लहरा रहा है, जल में फूले हुए कमल-कुसुम हिल रहे हैं। कैसा मनोहर सुंदर दृश्य है!—कर्मचारियों और कहारों से कह दो, बाग में दूसरी ओर जाकर विश्राम करें। मैं यहाँ अपने हाथ से फूल तोड़कर इष्टदेव की पूजा करूँगी।

सखी—महारानी की जो आज्ञा।—हे भृत्यगण! महारानीजी आज इसी बाग में रहेंगी। तुम लोग जाकर विश्राम करो।

(कहार, राजकर्मचारी आदि एक ओर और रानी व सखियाँ दूसरी ओर जाती हैं)

(मार, आत्मबोध और संदेह का प्रवेश)

मार—जैसा सुनता हूँ, वैसा ही देखा। रानी का आकार देखकर मुझे तो निश्चय हो गया कि अवश्य अवतार होगा।

आत्म०—कितनी ही बातें हुआ करती हैं, चिंता काहे की है? मैं तो मौजूद हूँ। सोच क्यों कर रहे हो, मैं अभी सब चौपट किए देता हूँ।

मार—आँखों से देख रहे हो, फिर भी व्यर्थ बकते हो। बारंबार धोका खाकर भी नहीं सीखे! इस समय तो बहुत मैं-मैं कर रहे हो, लेकिन उस समय मुँह से बात नहीं निकलेगी। अवतार क्या तुमने देखा नहीं?

संदेह—अरे इतनी चिंता करके क्यों मरे जा रहे हो? अभी तो अवतार हुआ नहीं। लड़का हो, लड़की हो, या गर्भ ही गिर पड़े, क्या मालूम। संभव है, अवतार की बात सच न हो, और देवगण केवल अवतार की धमकी दे रहे हों। शायद अवतार हुआ भी तो क्या, मैं दिन को रात करके दिखला दूँगा।

मार—तुम अंधे हो, तुम्हारे आँखें नहीं हैं, इसीसे अपनी झूठी बड़ाई कर रहे हो। देखते नहीं हो, रानी के शरीर से चंद्रमा की-सी किरणें निकल रही हैं! मैं यही सोच रहा हूँ कि अब क्या होगा! मेरे तो हाथ-पैर जैसे क़ाबू में नहीं हैं। यह लड़का पैदा हुआ, तो मेरी जड़ खोद बहावेगा!

आत्म०—मैं रानी को वहँकाकर आपत्ति की जड़ ही नष्ट किए देता हूँ—"न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी"—

मार—देखो, कोशिश करो। काम तो कठिन है, शायद कर सको।

आत्म०—अच्छा, तुम लोग जाओ। रानी आ रही हैं। मैं एक चाल चलता हूँ।

(मार और संदेह का प्रस्थान)

(रानी का प्रवेश)

रानी—नहीं जानती, क्या होगा? दिन-रात सोच के मारे मरी जा रही हूँ। हे देवदेव! केवल आप ही का भरोसा है। पुत्र का मुख देखकर जीवन को धन्य करूँगी, मेरी छाती ठंडी होगी, यह आशा हृदय को आनंद से परिपूर्ण करती है। किंतु फिर सोचती हूँ कि मेरा भाग्य तो वैसा नहीं है। अगर मेरे मन की साध न पूरी हुई? तो फिर लोक-समाज में लज्जा के मारे मुख कैसे दिखाऊँगी? मेरी कोख से क्या सचमुच शाक्य-वंश का उत्तराधिकारी पुत्र उत्पन्न होगा? क्या मैं राज-रानी के साथ ही राजमाता भी होऊँगी? क्या सचमुच मैं ऐसी भाग्यवती हूँ? आहा, मेरे गर्भ का समाचार सुनकर महाराज अपार आनंद से फूले नहीं समाते। क्या मुझे इस आशा से वंचित, निराश होना पड़ेगा?—अगर दैव की प्रतिकूलता से पुत्र न हुआ, तो अवश्य मैं अथाह जल में डूब मरूँगी!

- मायादेवीका स्वप्न -

आत्म० —हाय, मैं किस तरह माया-ममता भुलाऊँ! हाय, यह क्या हुआ! हाय, राजा को छोड़कर मैं कैसे और कहाँ जाऊँ?

रानी—आह, वन में यह कौन रमणी रो रही है? नहीं जानती, यह अभागिन किस की पत्नी है!—मैया, तुम कौन हो? इस निर्जन उपवन में क्यों रो रही हो?

आत्म०—अजी मैं चिरकाल से शाक्य-कुल में निवास कर रही हूँ। इतने दिन बाद अब कहाँ जाऊँ? राजा मुझे बहुत प्यार और आदर करते हैं!

रानी—शायद यह औरत पागल है। यह शाक्य-कुल की कोई ललना तो है नहीं, फिर राजा को स्मरण करके क्यों रो रही है?—हे सुंदरी, मैं राजरानी हूँ। तुम मुझे अपना परिचय दो। तुम कौन हो? तुम्हारा जन्म किस कुल में हुआ है? शाक्य-वंश के साथ तुम्हारा क्या संबंध है? बोलो—बोलो, किस लिये रो रही हो? हे कुलकामिनी, तुम घर छोड़कर इस निर्जन वन में क्यों आई हो? राजा के साथ तुम्हारा क्या परिचय है? सत्य कहो। मैं तुमको यत्न-पूर्वक अपने पास रक्खूँगी।

आत्म०—मेरा परिचय सुनकर तुम क्या करोगी? तुम क्या ममता छोड़ सकोगी?—नहीं, नहीं छोड़ सकोगी। यह बड़ी कठिन ममता है।—तो फिर बस, सर्वनाश है; मेरा रहना भी नहीं हो सकता।

रानी—तुम्हारी बातें तो जी में खुटका पैदा कर रही हैं ! कौन-सी, किस की ममता छोड़ने को कहती हो ? मेरे साथ तुम्हारा क्या संबंध है ? मैं अगर ममता न छोड़ूँगी, तो तुम्हारा रहना क्यों नहीं होगा ?

आत्म०—रानीजी, मैं राजलक्ष्मी हूँ । सुनो, सच कहती हूँ—तुम्हारे गर्भ का लड़का दुराचारी होगा, सारे राज्य को चौपट कर देगा । वह आप भी ज़िंदा नहीं रहेगा, और राजा को भी रुलावेगा । भला चाहो, तो मेरी बात सुनो, नहीं तो सर्वनाश हुआ रक्खा है । जल्द यह दवा खाकर गर्भ को नष्ट कर दो । लो—

(प्रस्थान)

रानी—अरे दूर हो पिशाची ! तेरा यह भड़काना वृथा है ! मुझे देव-वाक्य का उल्लंघन करने के लिये उपदेश देती है ?

(मार, आत्मबोध और संदेह का प्रवेश)

मार—आत्मबोध—संदेह—(गाते हैं)

गाना

देखो, देखो, देखो, नारी हा-हा-हा-हा मरती है ;
गिरती, पड़ती दीवानी-सी काँप रही है, डरती है ।
बच्चा भी अब मर जावेगा, भीतर आँत उतरती है ;
अब भी जो यह कहना माने, बिगड़ी हुई सँवरती है ।
भूत, अरे यमदूत, देखकर पकड़ रही यह धरती है ;
प्राण खींचते, देखो, देखो, कैसी आहें भरती है ।

आत्म०—चलो-चलो, भाग चलो।

सब—अरे आग—आग! जले—जले!

(रानी के सिवा सबका प्रस्थान)

(सखियों का प्रवेश)

सखियाँ—यह क्या! यह क्या! महारानी धूल में पड़ी हुई हैं! यह कैसी देव-विडंबना है!—कोई है, जल्दी जल लाओ।—रानीजी! रानीजी!—

रानी—दूर हो दुष्टो! पिशाचो, मेरे गर्भ में शाक्य-कुल का वंशधर कुमार है। दूर हो नरक के जीवो—

१ सखी—रानीजी, आँखें खोलकर देखो। हम आपकी दासियाँ हैं। पिशाच यहाँ कहाँ?

रानी—(उठकर) सखी! मैं कहाँ हूँ? वे पिशाच गए क्या?

२ सखी—महारानी सुस्थ हों। यह प्रमोद-कानन है। आप इतना उद्विग्न क्यों हैं?

रानी—सखी, शीघ्र यह स्थान छोड़ो, चलो। यहीं मैंने अनेक भयानक मूर्तियाँ अभी देखी हैं। उनके अंग धुएँ की तरह छाया-रूप थे। वे तालियाँ बजाती हुई मेरी ओर आ रही थीं। उन्होंने मुझे घेर लिया था। मुझे अपनी मृत्यु का भय नहीं है। गर्भ में स्थित संतान का अकल्याण कहीं न हो!

१ सखी—देवी! कोई भय नहीं है। तुम देव-कृपा से

गर्भवती हुई हो। फिर क्यों अमंगल की आशंका करती हो ! चलो, अंतःपुर में चलें।

(सबका प्रस्थान)

(दो ज्योतिषियों का प्रवेश)

१ ज्यो०—क्यों जी भट्ट, शनि का स्थान तो कर्क है।

२ ज्यो०—इसमें क्या फ़र्क़ है।

१ ज्यो०—आज तो भाई राजद्वार का सामना है। आज ही सबकी विद्या की थाह लग जायगी भैया।

२ ज्यो०—सो तो है ही, सो तो है ही। लेकिन बंदा भी तिथि-घड़ी-पल, सब देख आया है।

१ ज्यो०—अरे इतने से कहीं राजद्वार में काम चल सकता है ? वहाँ तो दिन को रात करके दिखाना पड़ता है। वहाँ तो हिसाब करके बताना होगा कि लड़की होगी या लड़का।

२ ज्यो०—हें:, यह क्या बड़ी बात है जी ! मैं तो यह भी बता सकता हूँ कि संतान गोरी होगी या काली, चालाक होगी या भोलीभाली। देखो, राहु हैं दाहने, केतु हैं बाएँ, किसी फूल का नाम लो। उसमें नक्षत्र की संख्या जोड़ो। फिर तीन से भाग दो। अगर बचे शून्य, तो बस लौटेंगे ख़ाली हाथ। और, अगर बचे दो, तो जो जी चाहे, सो लो।

१ ज्यो०—और अगर बाक़ी रहे एक ?

२ ज्यो०—तो मिलेगी चेक।

१ ज्यो०—अच्छा, आओ चलें, नहीं तो राजद्वार पर भारी भीड़ जमा हो जायगी।

(दोनों का प्रस्थान)

(राजा और मंत्री का प्रवेश)

राजा—मंत्री, जल में कमल की तरह, मेरा हृदय अधीर हो रहा है। लाख समझाता हूँ, पर जी नहीं मानता। न-जाने, आज उत्सव के दिन क्यों मन में भय का संचार हो रहा है। ब्राह्मण कहते हैं, सुलक्षण-युक्त पुत्र उत्पन्न होगा। हृदय में आनंद लहरा रहा है। पर अकस्मात् न-जाने क्यों त्रास की काली छाया उस आनंद पर पड़ने लगती है। कुछ मर्म समझ नहीं पड़ता।

मंत्री—महाराज, आप मन से संशय को निकाल डालें। निश्चय ही मंगल होगा।

राजा—मंत्री, वह दिन भी मैं देखूँगा भला, जिस दिन राजवंश में पुत्र-जन्म का उत्सव होगा—जिस दिन कुमार को गोद में लेकर, मुख चूमकर, हृदय की ज्वाला शांत करूँगा? पुत्र के विना सब मुझे शून्य अंधकार देख पड़ता है। सोचता हूँ, सब वैभव निष्फल है, यह जन्म वृथा है। इस समय मेरी विचित्र दशा है। हृदय सुख-दुःख के झोंकों से हिल-डुल रहा है। दिन-रात यही चिंता रहती है कि क्या संतान होगी—बेटा

होगा या बेटी ! कभी जान पड़ता है, पुत्र ही होगा—राज्य-भर में आनंद-कोलाहल मच जायगा ! मगर, न-जाने क्यों, वैसे ही मन में भय का संचार होता है ; हृदय शून्य जान पड़ता है ; एकाएक आँखों में आँसू भर आते हैं ; दूर पर अमंगल की छाया-सी नजर आती है ।

मंत्री—महाराज, बहुत शीघ्र आप पुत्र का मुख देखेंगे, और तभी आपकी सब दुश्चिंता दूर हो जायगी । अभी धैर्य धारण कीजिए ।

राजा—मंत्री, देखो, कौन आता है ?

मंत्री—महाराज, महाभाग श्रीकालदेवल महर्षि हैं ।

राजा—ऋषिराज तो शाक्य-कुल के चिरकाल के हित-चिंतक हैं ।

(कालदेवल का प्रवेश)

काल०—महाराज की जय हो ।

राजा—ऋषिराज, आज शुभ दिन है, जो बहुत दिनों के बाद आपके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ । मुझे ऐसे सौभाग्य-लाभ का ख़याल भी नहीं था ।

काल०—नरनाथ, कोई विशेष समाचार है । एकांत में आपसे कहना चाहता हूँ ।

राजा—मंत्री, जाओ, रानी की खबर लाओ ।

(मंत्री का प्रस्थान)

काल०—महाराज, मनुष्यों में निःसंदेह आप बड़े ही भाग्यशाली हैं। बल्कि अब देव-समाज में भी आप पूज्य समझे जायँगे। सुनिए पृथ्वीपाल, अब आपके सब सुलक्षणों से युक्त कुमार उत्पन्न होने में अधिक विलंब नहीं है। आपके यहाँ भुवन-पावन बुद्ध-अवतार होगा। हरि तुम्हारे पुत्ररूप से प्रकट होकर पृथ्वी का भार उतारेंगे। आप आश्चर्य न करें, त्रिभुवन में सब प्राणियों को महत् आनंद निर्वाण देने को, कलुषित जीवों पर दया करने को, संसार में दयामय का अवतार होगा। शीघ्र ही अज्ञानांधकार का विनाश होगा। अब नरक का भय दूर होगा, पृथ्वी पर हिंसा-द्वेष नहीं रहेगा। पशु, पक्षी, पतंग आदि सब निर्बल जीव निर्भय होकर रहेंगे—मनुष्य-हृदय देव-भाव से पूर्ण होंगे। देवगण पुलकित होकर नृत्य-गीत द्वारा आनंद प्रकट कर रहे हैं। किंतु हे नरेश, विधाता का एक यह विचित्र और अटल नियम है कि पृथ्वीतल पर विशुद्ध सुख कोई नहीं है। सोचकर देखो, प्रकाश के साथ ही छाया लगी है; कमलनाल में कंटक-निवास है; गंगाजल में मगर आदि हिंसक जीव रहते हैं; कोमल कुसुम को कीट काटते हैं; जवानी के साथ ही बुढ़ापे की विकट विभीषिका विद्यमान है। यह धराधाम सुख-दुःखमय है, इसी से पूर्ण सुख कहीं नहीं नज़र आता।

राजा—हे देव, शीघ्र कहिए, क्या अमंगल-संभावना है?

मुझे अधिक देर तक संशय में न रखिए। मैं सुनने को प्रस्तुत हूँ।

काल०—बुद्धदेव को गर्भ में धारण करनेवाली भाग्य-शालिनी रमणी का निवासस्थान सात स्वर्ग के ऊपर है। सब देव-देवियाँ उनके दास-दासी होंगे। वैसी भाग्यवती नारी धराधाम में नहीं रह सकती।

राजा—क्या, रानी!—रानी का अकल्याण होगा?

काल०—राजन्, विधि का विधान पत्थर की लकीर है! कर्मफल भोगना ही पड़ता है। आप तो अच्छी तरह जानते हैं—विधि के लेख को कौन मिटा सकता है?

(नेपथ्य में शंख ध्वनि)

राजा—कुमार का जन्म हुआ जान पड़ता है!

काल०—अधीर न होइए। यह आनंद-कोलाहल अंतःपुर में ही हो रहा है। अमंगल की आशंका से विचलित न होइएगा।

(मंत्री का प्रवेश)

मंत्री—महाराज, मैं आपको कुमार के जन्म का शुभ समाचार देता हूँ। किंतु—किंतु दूसरी खबर देते मेरी छाती फटी जाती है, मुँह से वाक्य नहीं निकलते। कुमार-जन्म के बाद ही महारानी मूर्च्छित हो गई हैं। राजवैद्य लोग बहुत कुछ यत्न करके भी उनकी मूर्च्छा को नहीं दूर कर सके।

राजा—हाय प्रिये ! हाय रानी !—

काल०—महाराज, यह इस तरह शोक करने का समय नहीं है। रानीजी बेहोश पड़ी हैं । आप भी इस तरह अधीर होंगे, तो कुमार की रक्षा कौन करेगा ?

राजा—ऋषिराज, रानी को पुत्र का मुख देखने की बड़ी अभिलाषा थी। हाय विधाता, तूने उसकी वह अभिलाषा पूर्ण नहीं होने दी, और यों हर्ष में विषाद उपस्थित कर दिया ! हाय प्रिये—

काल०—अच्छा, चलिए महाराज, पुत्र का मुख तो देखिए।

(दूत का प्रवेश)

मंत्री—क्यों दूत, क्या खबर है ?

दूत—मंत्रीजी, राजमहल में घोर हाहाकार मचा हुआ है—महारानी का वैकुंठवास हो गया । कुमार ने जन्मते ही अकस्मात् उठकर सात पग आगे बढ़कर गंभीर स्वर में कहा—"देव-नाग-नरगण, देखो, मैं सब जगत् का वंदनीय बुद्ध हूँ।" सहसा प्रमोद-कानन उज्ज्वल. अतुल, दिव्य प्रकाश से परिपूर्ण हो गया। न-जाने कहाँ से कुछ नर-नारी आकर उपस्थित हुए । सबके शरीर स्वर्गीय तेज से सुशोभित हो रहे थे। वे सब नाच-गाकर उत्सव कर रहे हैं। आकाश में देव-दुंदुभी बज रही हैं ।

राजा—हाय प्रिये !—

काल०—महाराज, उठिए ; यह शोक का समय नहीं है। आपके सर्वसुलक्षण-युक्त, सुयोग्य कुमार उत्पन्न हुआ है। उसका लालन-पालन कीजिए। मृत जीव के लिये शोक करना मूढ़ों का काम है।

राजा—हाय ऋषिराज, मुझे तो प्रिया के बिना दसो दिशाएँ शून्य दिखाई दे रही हैं। प्रफुल्लित कमलिनी-सी सर्वदा हास्यमुखी मेरी जीवन-संगिनी कहाँ गई? हाय अभागिनी, तू पुत्र-सुख से वंचित ही रही! हे सती! हे देवी! तू मुझे छोड़कर कहाँ चली गई? इतने दिनों की अभिलाषा तेरी आज पूरी हुई, तो तू ही नहीं रही। पुत्र न होने से तू अपने को अपराधिनी के समान समझती थी। पुत्र-कामना से दिन-रात देव-पूजा करनेवाली आज इस संसार में नहीं है। हाय, यह कैसी विधि-विडंबना है! अथवा मैं ही महाभाग्यहीन हूँ। तू तो सौभाग्यशालिनी है, जो पुत्र-रत्न को गोद में लिए-लिए पाप-संताप-पूर्ण इस लोक से स्वर्गधाम को सिधार गई। हाय! शोक है कि मैंने सुवर्ण के लिये गजमुक्ता को गँवा दिया। राजलक्ष्मी मुझे छोड़कर चली गई। अब मैं रानी के बिना पुत्र को लेकर क्या करूँगा? राज्य और धन से मुझे क्या प्रयोजन है? अब एकांत निर्जन वन में जाकर दिन-रात उसी प्रेयसी का ध्यान करता हुआ मैं अपना दुःखमय शेष जीवन बिताऊँगा। हर्ष में विषाद या रंग में भंग देखकर मुझे

सब चीजों से वैराग्य हो गया है। अब हृदय में किसी चीज की चाह नहीं रही।—हा! मेरी प्रेयसी कहाँ गई। प्रिये! देखो, तुम्हारे विना हाहाकार मच रहा है। हाय, मुझे अगर कभी तुम, खिन्न देख पाती थीं तो आकर तरह-तरह से मुझे सुखी और प्रसन्न करने की चेष्टा किया करती थीं। फिर इस समय क्यों ऐसी निठुर हो गई हो कि मुझे शोक-सागर में गोते खाते और रोते-धोते देखकर भी मेरे पास नहीं आतीं, अपने मधुर वचनों से नहीं समझातीं? यह तो तुम्हारी प्रकृति के विरुद्ध बात है। हाय! जन्म-भर के लिये मैं तुमसे बिछुड़ गया। अब मैं वह तुम्हारी आनंदमयी मूर्ति नहीं देख पाऊँगा! ओह! मेरा गृहस्थाश्रम समाप्त हो गया।—चलूँ, प्रिया के अंतिम दर्शन तो कर लूँ।

(वेग से प्रस्थान)

मंत्री—हा! आज राजमहल में कैसा दुर्दिन उपस्थित है! देवमाया को हम मनुष्य क्या समझ सकते हैं।

(सबका प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

स्थान—प्रमोद-कानन का अन्य भाग

(राजा और श्रीकालदेवल)

राजा—ऋषिवर, मेरा पुत्र कहाँ है?

काल०—वह देखिए, सिंहासन पर आपका पुत्र विराजमान है। देवगण उसकी आरती उतार रहे हैं। कुमार को एक महाज्योति घेरे हुए है।—वत्स, मैं जो कहता हूँ, उसे ध्यान से सुनो। अब यह आश्रम छोड़कर चल दो। यथासमय बुद्धदेव कृपा करेंगे। तुम्हारे प्रतापी पुत्र बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर ज्ञानबल से बुद्ध-पद प्राप्त करेंगे; उसके उपरांत देश-देशांतर में फिरकर मनुष्य-मंडली का उद्धार करेंगे। किंतु यह सब देखने के लिये पृथ्वी पर मैं नहीं रहूँगा।

(सबका प्रस्थान)

(देवतों और देवियों का प्रवेश। सब गाते हैं)

गान

जय जय देव दयामय स्वामी;
भव-भय-हारी, हृदय-विहारी, शांत-शील-अनुगामी।
शुद्ध, बुद्ध, निष्काम, निरंजन, कल्याणमय, वरदानी;
हिंसाहरण, शरण अशरण के, चरण भजत मुनि ज्ञानी।

दूसरा अंक

—:-•-:—

पहला दृश्य

स्थान—उद्यान

(दो देवबालाओं का प्रवेश)

१ देव०—सखी, भला युवराज को संगीत सुनाने से देवकार्य क्या सिद्ध होगा ? मैं देखती हूँ, युवराज देव-समाज के अत्यंत प्रीति-पात्र हैं। समझ में नहीं आता, यह नरदेह-धारी कौन हैं ?

२ देव०—सखी, मैंने जैसा सुना है, वही तुमसे कहती हूँ, सुनो। जीव-हिंसा मिटाने के लिये निरंजन हरि ने यह शरीर धारण किया है। कुमार का जन्म होते ही उनकी जननी स्वर्गवासिनी हुई। कारण, देवता को गर्भ में धारण करनेवाली नारी का स्थान देवलोक ही है। कुमार का लालन-पालन उनकी विमाता ने किया है। उनकी विमाता गौतमी भी देवी के अंश से उत्पन्न हुई हैं। वह अत्यंत भाग्यशालिनी हैं, तभी तो देव-दुर्लभ नंदन को दूध पिलाया। जैसे वृंदावन में यशोदा श्रीकृष्ण को पुत्ररूप से पाकर धन्य हुई थीं, वैसे ही गौतमी भी बुद्धदेव को दूध पिलाकर कृतार्थ हुई हैं।

अब वही कुमार बड़े हुए हैं, और प्रमोद-कानन में अपनी प्रिया के साथ रहते हैं।

१ देव०—सखी, यह प्रमोद-कानन तो बहुत ही सुंदर और रम्य स्थान है। सुनती हूँ, यहाँ पहरेदार बड़ी चौकसी रखते हैं। बाहर से कोई भीतर नहीं जाने पाता। राजा ने पुत्र को इस तरह क़ैद-सा क्यों कर रक्खा है ?

२ देव०—जब कुमार का जन्म हुआ, तब ज्योतिषियों ने विचार करके राजा से कहा कि "वृद्ध, रोगी, मृतक और भिक्षुक, इनको देखते ही राजकुमार घर छोड़कर चल देंगे। वह राज्य नहीं करेंगे।" इसी से राजा ने यह कड़ा पहरा करा रक्खा है। कुमार कहीं निकलने नहीं पाते। वह दिन-दिन चंद्र-कला की तरह बढ़कर और आचार्यों से सब शास्त्र पढ़कर स्याने और समर्थ हुए हैं। परंतु दिन-रात उदास भाव से न-जाने क्या सोचा करते हैं। पुत्र को संसार-सुख से विरक्त देखकर राजा भी हताश-से हो गए हैं, दुःखित रहते हैं।

१ देव०—बहन, इस विषय को ज़रा विस्तार से कहो। राजकुमार का ब्याह भला कैसे हुआ ?

२ देव०—सुनो। कुमार किसी साथी के साथ कोई खेल नहीं खेलते थे। न घोड़े पर सवार होते थे, न नगर में घूमते थे। कहीं कोई चींटी आदि क्षुद्र जीव न दबकर मर जाय, इस डर से देख-देखकर पृथ्वी पर पैर रखते थे। किसी ख़ूनी

जानवर का भी शिकार हुआ देखकर रोने लगते थे। लोग कहते थे, राजकुमार का स्वभाव कैसा है! ये बातें तो राजों के बालकों को नहीं सोहतीं!

१ देव०—मनुष्य कभी ऐसा दयामय और सब जीवों में समदर्शी नहीं हो सकता। अच्छा सखी, इसके बाद क्या हुआ?

२ देव०—राजा शुद्धोदन ने पुत्र की यह उदासीनता देखकर मंत्री से सलाह की, और पुत्र का व्याह कर देने के लिये निश्चय किया। कुमार को व्याह से घृणा थी; किंतु राजा ने कौशल से कार्य सिद्ध किया।

१ देव०—कहो, किस कौशल से कुमार का व्याह किया गया?

२ देव०—राजा ने जितनी सुंदरी क्वाँरी रमणियाँ थीं, सबको एक उत्सव में निमंत्रित कर अपने घर पर बुलाया और राजकुमार के हाथ से सब स्त्रियों को रत्न बँटवाए। किंतु कुमार की दृष्टि को किसी सुंदरी का रूप अपनी ओर न खींच सका। कोई स्त्री साहस करके राजकुमार से चार आँखें नहीं कर सकी। अंत को सुंदरी-शिरोमणि गोपा धीरे-धीरे युवराज के निकट उपस्थित हुई। उन्होंने लक्ष्मी के अंश से पृथ्वी पर जन्म लिया है। गोपा की माधुरी ने कुमार को मुग्ध कर लिया। आँखों से आँखें मिलते ही दोनों

गान

प्रेम में पागल मत होना.

समझ-बूझकर देखो हँसना, पड़े न पीछे रोना;

सुधा-स्वाद के लालच में पड़ विष के बीज न बोना।

पहले कसकर खूब परख लो, पीतल है या सोना;

चमक-दमक पर रीझ कहीं अपना सर्वस्व न खोना।

(मंत्री की पीठ पर दुहत्थड़ मारती हैं)

मंत्री—वाह-वाह ! तुम्हारे गाने में तो मोहिनी भरी है ! (देवबालाएँ मंत्री की नाक पकड़ती हैं) अरे रे रे—छोड़ो, छोड़ो—मैं अभी तुमको भीतर पहुँचाता हूँ। चलो।

(सबका प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

स्थान—उपवन

(सिद्धार्थ और गोपा)

सिद्धार्थ—प्रिये, मैंने जब तक तुम्हारा माधुरी-मंडित मुख-कमल नहीं देखा, तब तक मुझे सारा संसार शून्य देख पड़ता रहा। अरुणोदय के समय, जामन के पेड़ के नीचे बैठकर, शून्य हृदय लिए जीवन-नदी की लहरों का अस्पष्ट शब्द सुना करता था। मोरनी नाचती थीं; वन की चिड़ियाँ प्रकाश में इधर-उधर क्रीड़ा करती फिरती थीं; निकट ही वन में मृग और मृगी का जोड़ा विचरता था। मलय-मारुत के स्पर्श से सुगंधित सुमन हिलते-डुलते थे। इस तरह शोभा-पूर्ण पृथ्वी

को देखकर भी मेरे हृदय का विकार या उदासी दूर नहीं होती थी। मैं सोचता था, यह सब लक्ष्यहीन है। फिर कैसा परिवर्तन देख पड़ता था!—जब बीच आकाश में दोपहर का सूर्य तपने लगता था, तब फिर उस आनंद-कल्लोल का कहीं पता न लगता था। अग्निमय पवन के झोंके चलने लगते थे; सरस कुसुम रसहीन हो जाते थे। मन में भ्रम होता था कि इस क्षणस्थायी आनंद से क्या फल? उसके उपरांत जब संध्या-समय आता था, पश्चिम-आकाश लाल हो उठता था, तो फिर हृदय में नवीन भाव का आविर्भाव होता था। वह उषाकाल की-सी घटा, रागरंजित सुवर्ण-मेघ की छटा, नजर आती थी। हाँ वैसी ही, लेकिन वही नहीं। उसमें इसमें पूर्व और पश्चिम का अंतर था। चिड़ियाँ उस तरह से आनंद के गीत नहीं गाती थीं, बल्कि तेजी के साथ अपने घोसलों की ओर जाती थीं। मृगी धीरे-धीरे अपने निवासस्थल को लौटती थी। हे प्रिये! कभी रात को आकाश निर्मल होता था, चंद्रमा पृथ्वी पर शांति बरसाता हुआ आकाश में हँसने लगता था और उसकी रुपहली किरणें जीवों के श्रम को हरती थीं। कभी अंधकारमयी अमा-निशा का दृश्य देख पड़ता था—वह कभी नक्षत्रों का जगमगाता हुआ हार पहने रहती थी, और कभी मेघों की चादर ओढ़कर अपने रूप को और भी तमोमय बना लेती थी। मुझे इन परिवर्तनों का

कोई लक्ष्य नहीं समझ पड़ता था। सब कुछ लक्ष्य-शून्य ही जान पड़ता था। मैं दिन-रात म्रियमाण-सा रहता था। हे सुंदरी! मेरे जीवन की धारा एक ही भाव से बहती जा रही थी। मुझे जान पड़ता था, समय रथ-चक्र की तरह घूम रहा है। वही दिन, रात, महीना, पक्ष, ऋतुएँ, हिर-फिरकर आती हैं। जैसे समय-चक्र नियम के अधीन नहीं है, वह अपनी इच्छा के अनुसार चिरकाल से घूम रहा है। किंतु प्रिये! जब से तुम अंकशायिनी बनी हो, तब से हृदय का वह विकार—शून्य भाव—दूर हो गया है। तुमने जैसे मुझे दिव्य दृष्टि दे दी है। अब सभी प्रसन्नतामय, सुख-पूर्ण देख पड़ता है।

गोपा—नाथ, आपका सरस मुखकमल देखकर मेरे हृदय में आनंद की लहरें उठने लगती हैं। परंतु फिर भी न-जाने क्यों समय-समय पर मन उदास ही हो जाता है। जब मैं बालिका थी, तब भी इसी तरह की उदासी कभी-कभी आ जाती थी। जिस दिन आपके दर्शन मिले, उसी दिन मेरे हृदय में आपने घर कर लिया। उसके बाद आपने सदय होकर मेरे कंठ में प्रेमोपहार रत्नहार पहना दिया, मैं आपकी दासी हो गई। प्राणनाथ, आपने सहधर्मिणी बनाकर, दुर्लभ प्रेम देकर, मुझे सब कुछ दिया है। मेरी कोई कामना अपूर्ण नहीं है। फिर भी न-जाने क्यों हृदय में विषाद की छाया देख पड़ती है?

सिद्धार्थ—प्रिये, विषाद की छाया को दूर करो। पहले

यही छाया मेरे हृदय को भी ढक लिया करती थी ; मगर अब तुम्हारे नयनों के उज्ज्वल प्रकाश ने उस विषाद-छाया को मिटा दिया है। छाया—छाया—छाया बहुत दूर तक है। दूर-दूर तक छाया छाई हुई है। सारा जगत् ही छायामय है—एक प्रकार की छाया है। प्रिये, चित्त को स्थिर करके देखो, छाया कभी पराजित होनेवाली नहीं है। जैसे कोई कोमल स्वर से मेरे कान में कह रहा है कि असीम अनंत छाया ने इस त्रिभुवन को घेर रक्खा है!—मगर प्रिये, मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरी हो ; फिर हमारे हृदय में कहाँ छाया? वहाँ तो सभी प्रेम के प्रकाश से प्रकाशमय है!—हृदयेश्वरी, देखो, वे मलय-मारुत-संचालित पुष्प हिल-हिलकर तुमसे कह रहे हैं कि "हम तुम्हारे ही लिये विकसित हुए हैं"; कलरव कर रही चिड़ियों के समूह तुम्हें ही प्रसन्न करने के लिये सुमधुर बोलियाँ बोल रहे हैं ; मृदु मंद पवन अलकावली के साथ क्रीड़ा करता हुआ तुम्हारी सेवा कर रहा है।—किंतु प्रिये, जान पड़ता है, सचमुच ही तुम्हारे हृदय में कहीं विषाद की छाया छिपी हुई है। सुंदरी, वसंत की उषा में कमल-दल पर शिशिर-बिंदु के समान तुम्हारे नयनों में ये आँसू क्यों दिखाई देने लगे? तुम तो जानती हो कि मुझे तुम्हारे मुख में हँसी की रेखा कितनी प्यारी है!—प्रिये, आज यह नया भाव कैसा दिखाई दे रहा है? हँसी और आँसू का यह

कैसा विलक्षण मिश्रण है ? आज मैं यह वसंत में वर्षा कैसी देख रहा हूँ ?—प्रिये, तरुण अरुण जैसे कमल-दल के ऊपर से शिशिर-बिंदुओं को हटाता है, वैसे ही मैं भी तुम्हारे नयनों को चूमकर इन आँसुओं को पोंछता हूँ।

गोपा—प्राणनाथ, जैसे सूर्य को देखे बिना कमलिनी मलिन बनी रहती है, अकेली मुँह लटकाए रहती है, और सूर्योदय होने पर उसका मुख खिल उठता है, किंतु वह रात्रि की वियोग-ज्वाला जता नहीं पाती, वैसे ही मैं भी आपको देखकर हृदय के विषाद को भूल जाती हूँ। ख़याल ही नहीं रहता कि हृदय में कोई अभाव है। छाया—हाँ, छाया ही! आपके अभी छाया कहने से उस भयानक स्वप्न का चित्र आँखों के आगे आ गया। नित्य ही मैं वह स्वप्न देखती हूँ। रोकर जाग पड़ती हूँ। परंतु पास ही आपको पाकर वह स्वप्न भूल जाती हूँ, और आपके गले से लगकर सो जाती हूँ। सबेरे उठकर, आपका सुंदर वदनारविंद देखकर, उषा-दर्शन से आनंदित पद्मिणी की तरह, सुखी होती हूँ।

सिद्धार्थ—प्रिये, वह स्वप्न क्या है ? मुझसे कहो।—लेकिन जो उससे तुम्हारा जी दुखे, तो रहने दो। मैं ख़ुद नींद में न-जाने कितने स्वप्न और जागते में न-जाने कितने दृश्य देखा करता हूँ; पर उन पर ध्यान नहीं देता। बल्कि भूल जाने का यत्न करता हूँ। संसार में बस विस्मृति ही उपाय है। विस्मृति के

सिवा अन्य गति नहीं है ! आओ प्रिये, हम परस्पर एक दूसरे को देखकर प्रेम के स्वप्न में मग्न हो जायँ, और अन्य सब स्वप्नों को भूल जायँ !—स्वप्न, स्वप्न, यह सब स्वप्न ही है । सोते, जागते जो कुछ देख पड़ता है, वह स्वप्न के सिवा और क्या है ?

(देवबालाओं का प्रवेश)

देव०—(गाती हैं)

गान

शांति चाहती हैं, पर जग में कहाँ मिलेगी सच्ची शांति ?
जहाँ देखिए, वहीं दिख रही शांति नहीं, है केवल भ्रांति ।
पता नहीं आने-जाने का मर्म क्या है, कैसी है क्रांति ;
कभी उदासी, कभी हँसी है, श्रम है कभी, कभी विश्रांति ।

सिद्धार्थ—आहा, प्रिये, कैसा मधुर संगीत है ! इस हर्ष-शोक-मिश्रित गान ने हृदय-तंत्री के तारों में एक अपूर्व झनकार पैदा कर दी ! एकाएक एक नया भाव उत्पन्न हो गया ! स्मरण नहीं आता, मैंने शायद कहीं यह गाथा सुनी है । ये गानेवाली वालाएँ कौन हैं ? प्रियतमे, इनको बुलाओ, मैं उपहार दूँगा । इन तुम्हारी नई सखियों का स्वर बड़ा ही मनोहर है ।

गोपा—नाथ, ये तो मेरी कोई संगिनी या सखी नहीं हैं । मैं नहीं जानती, ये कौन रमणी हैं और कहाँ रहती हैं ?

सिद्धार्थ—(देवबालाओं से) हे कमलनयनी सुंदरियों, मुझे अपना परिचय दो । इस प्रमोद-भवन में तुम कहाँ से आई हो, और कौन हो ?

देव०—(गाती हैं)

गान

कौन हैं, आई कहाँ से, यह नहीं कुछ ज्ञान है ;
कौन लाया है यहाँ, हमको न इसका भान है।
घूमती रहतीं सदा हम हर तरफ़, हर देश में ;
है नहीं परिचय किसी का, छा रहा अज्ञान है।
सैकड़ों ही इस तरह आ-जा रहे संसार में ;
कौन जाने, जानना मुशकिल है या आसान है।
हैं अभी, पल में नहीं हैं, यह यहाँ दस्तूर है ;
रो रहा कोई, सुनाई दे कहीं पर गान है।

सिद्धार्थ—सच है, न-मालूम कितनी दूर तक, कहाँ तक यह पृथ्वी विस्तृत है। पूर्व दिशा में नवरागरंजित उषा का आगमन देखकर मन में उन नर-नारियों को देखने की साध होती है, जिनको बाल-सूर्य सुनहली किरणों से अंधकार हटाता हुआ अपने प्रकाश से पहले-पहल जगाता है। फिर हे प्रेयसी, सायंकाल को पश्चिम-आकाश में लाल बादलों की शोभा निहारकर मेरा अभिलाषा-पूर्ण हृदय सूर्य के साथ ही उस स्थान को जाना चाहता है, जहाँ वह गमन करते हैं। जैसे अपने प्रिय सूर्य को देखकर कमलिनी प्रफुल्लित होती है, वैसे ही मेरा हृदय-कमल भी उनके दर्शन से विकसित होता है। ख़याल होता है कि पृथ्वी पर न-जाने कितने सुंदर और बड़े नगर हैं, जिनमें असंख्य मनुष्य बसते हैं। हे प्रिये, तुम और मैं, दोनों

अगर वहाँ उड़कर जा सकें, तो न-जाने कितने सुंदर मुख देखने को पावें, न-जाने कितने लोगों को हृदय से प्यार करें। उड़-कर आकाश में पहुँचें, और वहाँ से नीचे विस्तीर्ण पृथ्वी-मंडल की शोभा निहारें। संध्या के समय आनंद के साथ इच्छानुसार पर्वत-शिखर पर एकांत स्थान में जाकर बैठें, और एक-एक करके आकाश में दिखाई देनेवाले तारागण की शोभा देखें। किंतु यहाँ प्रमोद-भवन में हम बंद हैं! इस प्रमोद-भवन के फाटक के बाहर विशाल पृथ्वी पड़ी है; परंतु हम उसके दर्शन से वंचित हैं!—

गोपा—प्राणनाथ, यह आपका कैसा भाव देख पड़ता है? मैंने आज सबेरे जो बुरा सपना देखा है, उसी को याद करके मेरा हृदय काँप रहा है। उस पर आपका यह भाव देखकर तो मेरे होश-हवास ठिकाने नहीं हैं। नहीं जानती, मेरे भाग्य में क्या बदा है! वह स्वप्न, ओह, बड़ा ही भया-नक था। मैंने देखा, पृथ्वीमंडल को कँपाती हुई प्रलय की भयानक आँधी आ रही है। तारा-मंडली उसके प्रचंड प्रकोप से अपनी कक्षा से भ्रष्ट हो गई, और राजदंड टूटकर गिर पड़ा। तुम मेरे पास नहीं हो! हाय—शय्या पर तुम्हारा राजमुकुट पड़ा हुआ है, पर तुम मेरे पास नहीं हो! प्राण-नाथ, यह दुःस्वप्न देखकर मेरा हृदय काँप उठा! इस समय तुम्हारा यह भाव देखकर हृदय और भी उद्विग्न हो रहा है।

मैं लाख उसे सँभालने की चेष्टा करती हूँ, पर वह नहीं सँभलता—प्रबोध नहीं मानता ! हृदयेश्वर, अबला के इस भय को दूर करो ।

सिद्धार्थ—प्रिये, मैं यही सोचता हूँ कि मैं यहाँ किस काम के लिये आया हूँ, और किस काम में जीवन के दिन बिता रहा हूँ ? इस संसार में अज्ञान के अंधकार में पड़ा हूँ। अज्ञान ही के कारण इस कारावास में हृदय प्रसन्न है । एक बार भी नहीं सोचता कि मेरे इस जीवन का लक्ष्य क्या है ! मेरा हृदय चाहता है कि पृथ्वीतल पर जो कोई जहाँ है उसे भ्रातृभाव से गले लगाऊँ । पशु-पक्षी भी मेरे बंधु हैं । धरातल के दुःख और क्रंदन को मिटाने की इच्छा होती है । प्रिये, तुम मेरी जीवन-संगिनी हो, इसलिये तुमको उचित है कि मेरे धर्म-कार्य में सहायता करके अर्द्धांगिनी नाम को सार्थक करो । मुझे अंधकारमय अज्ञान में रखने का यत्न मत करो । मेरा हृदय ब्रह्मांड-भर में दौड़कर जाना चाहता है । फिर तुम्हीं बताओ, इस क्षुद्र प्रमोद-भवन में मैं कैसे प्रसन्न, प्रफुल्ल रह सकता हूँ ? सुनो प्रिये, सब प्राणी महादुःख के चक्र में पड़े हुए हैं । वे असहाय हैं, उनके लिये कोई उपाय नहीं है । कोई उनकी ओर नहीं देखता । यही खेद मेरे हृदय को पीड़ा पहुँचा रहा है । हे सती, स्वार्थ को भूलकर इस पर-दुःखमोचन-रूप महाव्रत के पालन में पति को उत्साहित

करो। हे चंद्रमुखी, तुम्हारी अनुमति लेकर मैं जीवों के दुःख दूर करूँगा।

गोपा—स्वामी, स्वार्थ, अर्थ, परमार्थ, सब कुछ मेरा तुम्हीं हो। मैं तुम्हारी अनुगामिनी दासी हूँ। मैं कभी तुम्हारे किसी कार्य का विरोध नहीं कर सकती। मैं तुम्हारे सुख में सुखी हूँ। नाथ, जिसमें तुम्हें दुःख है, उसमें मुझे क्या सुख है? हे गुणनिधि, मैं केवल इतना ही अनुरोध करूँगी कि मुझ आश्रित अबला को अपने श्रीचरणों से अलग न करना।

सिद्धार्थ—हे चंद्रवदनी, तुम आनंददायिनी और मेरे हृदय की अधीश्वरी हो। मैं तुम्हारे प्रेम से विश्व-प्रेम सीखूँगा; जगत् में तुम्हारा प्रेम बाँटूँगा। बस, इतनी ही मेरी अभिलाषा है।

(दोनों का प्रस्थान)

(दूर पर राजा, मंत्री और विदूषक का प्रवेश)

विदू०—महाराज, मैं कहता हूँ, बेटा और बहू आनंद भोग करते हैं, आप यहाँ नित्य क्या देखने आते हैं भला? अगर आपको वैसा ही शौक़ हुआ हो, तो बूढ़ी रानी को लेकर आप भी एक नवीन प्रमोद-कानन बसाइए, या कोई षोड़शी ब्याहकर ले आइए।

राजा—सखा, जिस दिन मैं अपने प्रिय पुत्र सिद्धार्थ का मुख नहीं देखता, वह दिन मुझे शून्य-सा जान पड़ता है।

विदू०—महाराज, आप तो बहुत ही उद्विग्न थे कि युवराज विरक्त न हो जायँ। आप तो समझते थे कि स्त्री-जाति से उनका छत्तीस का नाता है। लेकिन मैं आपको यह शुभ समाचार देता हूँ कि आपकी आशंका निर्मूल थी—बहूरानी के गर्भ है। पुत्र संतान होने पर फिर युवराज पहले की तरह घंटों ध्यान-धारणा-समाधि धारण करेंगे। महाराज, आप ही विचारकर देखिए, इस जवानी की उमर में हम लोग भी ध्यान लगाते थे। किसका ? षोड़शी प्रिया का, परब्रह्म का नहीं। ठीक है न ?

राजा—मित्र, तुम्हारा आशीर्वाद सफल हो। सिद्धार्थ के पुत्र होगा, तो मैं तुम्हारी ब्राह्मणी के लिये बावन रत्ती की नथ गढ़वा दूँगा।

विदू०—ना महाराज, इतनी भारी नथ होगी, तो ब्राह्मणी को नाक से भी हाथ धोना पड़ेगा। मेरी और एक साध है। आप झाँझें बनवाकर पहनिएगा। नाती के पैरों में घुँघरू होंगे, और आप नंगे पैरों घूमेंगे—यह देखने में अच्छा नहीं लगेगा।

(सिद्धार्थ और गोपा का प्रवेश। दोनों का राजा को प्रणाम करना)

राजा—आओ पुत्र सिद्धार्थ, सुखी रहो।—वत्स, कुछ कारीगर बहुत दूर से आए हैं, और वे तुम्हारे प्रमोद-भवन की शोभा बढ़ाने के लिये अपनी अभिलाषा प्रकट कर रहे हैं।

अगर तुम पसंद करो, तो मैं उन्हें महल की सजावट के लिये यहाँ भेज दूँ।

सिद्धार्थ—पिताजी, इस क्षुद्र प्रमोद-भवन में मेरा जी नहीं भरता—संतोष नहीं होता। यहाँ की सब शोभा प्राकृतिक नहीं, कृत्रिम है। यहाँ के तरु, लता, वनस्पति, सब अपने मन से उगे और बढ़े नहीं हैं। यहाँ एक ही तरह की शोभा है, विचित्रता नहीं है। मैं जब आकाश की ओर देखता हूँ, तो वहाँ यह बात नहीं पाता। आकाश की शोभा नित्य नई नज़र आती है। उसमें कृत्रिमता नहीं है। पृथ्वी पर भी वैसी ही नित्य नई विचित्र प्राकृतिक शोभा अवश्य है; किंतु प्रमोद-भवन को शिल्पियों ने नित्य एक-सी कृत्रिम शोभा से शोभित कर रक्खा है। इस चहारदीवारी के बाहर की भूमि से मेरा परिचय नहीं है। मैं आपसे अनुमति माँगता हूँ, आज नगर के बाहर सैर करने के लिये जाना चाहता हूँ।

राजा—वत्स, इस भवन में तुम्हारे लिये सब सुख-सामग्री एकत्र है। फिर तुमको असंतोष क्यों है? मैंने इस भवन की सजावट में राज्य का कोष खाली कर दिया है। जहाँ जो चीज़ सुंदर थी, वहाँ से वह चीज़ मँगाकर यहाँ रक्खी गई है। त्रिभुवन में ऐसी कौन अच्छी चीज़ है, जो तुम्हारे इस प्रमोद-भवन में नहीं है? जैसे माला में सुमेरु रहता है, वैसे ही

पृथ्वीमंडल में तुम सुंदरियों और रत्न-सदृश श्रेष्ठ सामग्रियों के बीच सुख से रहो। वत्स, तुम यहाँ से बाहर जाने के लिये क्यों उत्सुक हो?

सिद्धार्थ—पिताजी, माला के मध्य की मणि (सुमेरु) अवश्य सुंदर है; किंतु एक मणि ही तो मणिमाला नहीं है। क्षुद्र रत्न-समूह ही मिलकर माला बनाते हैं, और उनके कारण ही मध्य की मणि भी सुंदर और श्रेष्ठ जान पड़ती है। यह प्रमोद-भवन यद्यपि सुंदर है, तथापि मेरा जी चाहता है कि मैं शोभा-मयी पृथ्वी के और स्थानों की भी सैर करूँ। देखिए, पुष्पों के राजा कमल को मैं अवश्य सुंदर मानता हूँ; किंतु अन्य क्षुद्र फूल भी सुंदर हैं। उनकी शोभा अपने ढंग की है, और उन्हें देखकर भी चित्त प्रफुल्ल हो उठता है। पिताजी, मेरी यह इच्छा पूर्ण कीजिए, और बाहर जाने की अनुमति दीजिए।

राजा—अच्छी बात है वत्स, तैयारी करो। कल दूत आकर तुमको साथ ले जावेगा, और नगर के सब सुंदर स्थान दिखा लावेगा।

सिद्धार्थ—आशीर्वाद दीजिए, मैं श्रीचरणों में प्रणाम करता हूँ।

राजा—वत्स, चक्रवर्ती होओ।

विदू०—युवराज की जय हो।

(सिद्धार्थ और गोपा का प्रस्थान)

राजा—यह घटना देखो—युवराज एकाएक नगर-भ्रमण करने के लिये उद्यत हो बैठे ! ज्योतिषी पंडितों ने मुझसे कहा है कि वृद्ध, रोगी, मृत और भिक्षु का दर्शन होने से राजकुमार गृह त्यागकर जायँगे। इसलिये शीघ्र नगर में यह घोषणा कर दो कि कल कोई वृद्ध, रोगी आदि मार्ग में न निकले। नगर खूब सजाया जाय, जिसे देखकर कुमार के मन में राज्य की लालसा बढ़े। देखो मंत्री, खूब सावधानी के साथ इस आज्ञा का पालन हो। राजमार्ग में कोई कुत्सित दृश्य न देख पड़े।

मंत्री—महाराज, कोई चिंता नहीं है। शाक्य-राज्य में सब लोग राजभक्त हैं। राजकुमार सबको प्यारे हैं। सबको यह ज्योतिषियों की भविष्यद्वाणी मालूम है। विशेषकर सब पहरेदार इस मामले में सतर्क हैं। मैं सबको और सावधान कर दूँगा; और खुद खबरदारी करता फिरूँगा।

(मंत्री का प्रस्थान)

राजा—सखा, कल मैं खुद पहरेदार का काम करूँगा।

विदू०—मैं कहता हूँ कि यह सैर-सपाटे की तैयारी कुछ दिन बाद भी तो की जा सकती थी ? आप चाहते, तो टाल भी सकते थे।

राजा—क्या कहूँ मित्र, सिद्धार्थ मुझे प्राणों से भी प्रिय है। वह जब जो कुछ चाहता है, उसे मैं, भले-बुरे का विचार न करके, तत्काल पूरा करता हूँ। आज उसे उत्साह था। अगर मैं रोकता,

तो वह व्यथित होता ; अथवा टालमटोल के कारण की खोज करने लग जाता। मैंने पक्षी को सुवर्ण के पिंजड़े में बंद कर रक्खा है ; पर साथ ही यह भी ख़याल है कि वह इस रहस्य को जानने न पावे।

(दोनों का प्रस्थान)

(सिद्धार्थ का फिर प्रवेश)

(शून्य में देवबालाओं का आविर्भाव और गीत)

गान

यह छोड़ो सब नादानी ; है ठीक नहीं मनमानी।
किस लिये यहाँ पर आए,
क्यों इतने दिवस गँवाए,
कुछ सोचो तो नर ज्ञानी—है ठीक नहीं मनमानी।
यह समय जा रहा ऐसे,
हो धारा का जल जैसे,
कर चेत अरे अज्ञानी—है ठीक नहीं मनमानी।
क्यों पड़ा बेख़बर सोता,
उठ, देख कहाँ क्या होता,
सुन साधु-संत की बानी—है ठीक नहीं मनमानी।
काया माया का डेरा,
छाया अज्ञान-अँधेरा,
भटकें उसमें सब प्रानी—है ठीक नहीं मनमानी।
होगा उद्धार हिए से,
निज-रूप-प्रकाश किए से,
बन धर्म-ध्येय का ध्यानी—है ठीक नहीं मनमानी।

- राजकुमारका नगर-परिदर्शन -

A 4293 Lakshmi Art, Bombay, 8

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—राजमार्ग

(श्रीकालदेवल का प्रवेश)

श्रीकाल०—बुद्धदेव के आज अंतिम दर्शन कर जाऊँगा। कल यह शरीर छूट जायगा। आज ही रात को राजकुमार गृह-त्याग कर जायँगे। आहा, राजा शुद्धोदन मोह से अंधे हो रहे हैं। वह विधाता की लिपि को अन्यथा करना चाहते हैं। राजा देवमाया को नहीं समझते। साक्षात् शंकर स्वयं पृथ्वी पर वृद्ध, रोगी, मृत और भिक्षु का रूप रखकर आवेंगे। वह बुद्धदेव आ गए, और उधर वृद्ध के वेष में शंकर भी आ रहे हैं। आड़ में खड़े होकर पृथ्वी पर देवलीला देखनी चाहिए।

(प्रस्थान)

(सिद्धार्थ और सारथी का प्रवेश)

सिद्धार्थ—हे सारथी, मैंने नगर तो खूब सुसज्जित देखा। सब प्रजा मेरे आगमन से आनंद-उत्सव में मग्न हो रही है। किंतु यह मुझे स्वाभाविक अवस्था नहीं जान पड़ती। मेरा जी यह देखने को उत्सुक हो रहा है कि सब लोग नित्य किस

अवस्था में रहते हैं। मैं यथार्थ अवस्था जानना चाहता हूँ। स्वभाव से ही मेरी यह धारणा है कि यह पृथ्वीतल सुख का स्थान नहीं है। काल-निशा के अंधकार में सब मनुष्य अंधे के समान भरम रहे हैं! मैं अपने मन में यही सोचता हूँ कि कहाँ से दिव्य प्रकाश लाऊँ, दीन नरों को दूँ, और संसार की खुमारी या नींद उनके नेत्रों से दूर करूँ। मेरी इच्छा थी, संसार में रहकर ज्ञान-ज्योति का प्रचार करूँगा। किंतु उसका उपाय नहीं सूझता। जो स्वयं पराधीन है, वह दूसरों को स्वाधीनता की शिक्षा कैसे देगा? मेरी आशा वृथा है! विषम बंधन को मैं तोड़ नहीं सकता।

(दूत का प्रवेश)

दूत—युवराज की जय हो। सौभाग्यवती बहूरानी के सुकुमार कुमार उत्पन्न हुए हैं। सब पुरवासी इस समाचार से आनंद-मग्न हो रहे हैं। बहूरानीजी आपको नवजात कुमार का मुख-चंद्र दिखाने के लिये अत्यंत उत्कंठित हो रही हैं।

सिद्धार्थ—जाओ, मेरे रत्नों का खज़ाना खोल दो, दीन-दुखी-दरिद्र जनों को धन-रत्न बाँटो। और, तुम भी मनमाना धन और रत्न ले लो। लो, यह अँगूठी मैं तुम्हें इनाम देता हूँ।

दूत—युवराज के दिए इस सम्मान से मैं कृतार्थ हो गया।

(प्रस्थान)

सिद्धार्थ—(सारथी से) छंदक, यह रत्नहार तुम लो। (स्वगत)

यह बंधन के ऊपर बंधन है ! नित्य नई विडंबना का सामना नज़र आता है । हृदय में वासनाओं का सागर लहराता है । इसमें संदेह नहीं कि यह वासना-सागर अपार और दुस्तर है । ओह, सुख की आशा—कोरी आशा ही है । सुख—यथार्थ सुख क्या है, यह मैं अभी तक नहीं जानता ।

(सामने वृद्ध का प्रवेश)

सिद्धार्थ—(सारथी से) यह मेरे सामने कैसा भीषण आकार है ! यह नराकार है, लेकिन नर तो नहीं है—हड्डियों के ढाँचे पर सूखा चमड़ा मढ़ा हुआ है । जैसे बड़े भारी बोझ के मारे झुका हुआ है—सिर ऊपर नहीं उठा सकता ।—क्यों सारथी, बताओ, यह कौन जीव है ?

सारथी—कुमारजी, यह भी मनुष्य ही है । वृद्धावस्था के भार ने इसे झुका दिया है । यह यों ही पृथ्वीतल पर घूमता है । इसका कोई सहायक नहीं है । जरा-जीर्ण होने के कारण इसकी यह शोचनीय दशा है ।

सिद्धार्थ—यह दशा क्या सभी मनुष्यों की होगी ? अथवा दैवदुर्विपाक में पड़कर इसी की यह दशा हुई है ? क्या मनुष्य-मात्र इसी तरह जरा-जीर्ण होते हैं ?

सारथी—हाय स्वामी, काल बड़ा प्रबल है ! हे बुद्धिमान् युवराज, किशोरावस्था और युवावस्था जैसे काल के नियम से होती हैं, वैसे ही यह बुढ़ापा भी आता है । यह दशा

सभी की होती है। इससे किसी का निस्तार नहीं है। देह-धारी-मात्र को बुढ़ापे के अधीन होना होता है।

सिद्धार्थ—मैं, गोपा, परमसुंदरी सब सहचरियाँ, इन सबको क्या एक समय इसी तरह जरा-जर्जर होना पड़ेगा?

सारथी—हाँ युवराज। यह संसार का नियम है। राजा और प्रजा सब उसी नियम के अधीन हैं। काल किसी को नहीं छोड़ता। राजा और प्रजा, सब पर समान भाव से जरा का आक्रमण होता है।

सिद्धार्थ—क्या संसार में यही सुख है? वृद्धावस्था से किसी का भी निस्तार नहीं! इसी लिये जीव जीवन-धारण करता है! सुखमय यौवन का यही परिणाम है! हाय ऐसे कारागार में मनुष्य किस सुख के लिये निवास करता है? किस कारण राजा के घर जयजयकार की ध्वनि उठती है, जब कि राजा और प्रजा का एक ही परिणाम होता है, दोनों एक ही दुःख से दुखी हैं।

(सामने एक रोगी का प्रवेश)

रोगी—मुझे सँभालो; मेरे प्राण निकलते हैं; मेरे चारों ओर आग-सी जल रही है; मेरी हड्डियों के सब जोड़ शिथिल हुए जाते हैं—मुझे पकड़ो—सँभालो।

सिद्धार्थ—आहा, देखो, यह भी वैसा ही जीर्ण-शीर्ण हो रहा है। पैर, देह-भार न सँभाल सकने के कारण, लड़खड़ा

रहे हैं। कहता है—चारों ओर आग लगी है। बारंबार काँप रहा है, जैसे जाड़ा सता रहा हो। क्यों सारथी, क्या यह भी जरा-ग्रस्त है?

सारथी—नहीं युवराज। महारोग ने इसके कलेवर को शीर्ण कर दिया है। हड्डियों के जोड़ तक रोग के प्रभाव से शिथिल हो गए हैं। देह में ज्वर चढ़ा है, जिससे आग-सी लगी जान पड़ती है। रोग ने बल-क्षय कर दिया है, इसी से चलते में पैर लड़खड़ाते हैं। यह रोगी है।

सिद्धार्थ—हे चतुर छंदक, बताओ तो सही, यह भी क्या देह का नियम है? क्या यह दशा सबकी होती है?

सारथी—युवराज, यह शरीर यंत्र के समान चलता है। कौन जाने, कब उसमें विकार उत्पन्न हो जायगा! देहधारी-मात्र को रोग का भय है। देह रोग का घर है। इस नियम का खंडन किसी तरह नहीं होने का।

सिद्धार्थ—फिर क्या मनुष्य इस देह का गौरव-गर्व करता है! इसी शरीर के लिये वैभव की लालसा की जाती है? शरीर रोगों का घर है, तो क्या मनुष्य पीड़ा के पोषण के लिये उस शरीर की इतनी सेवा करते हैं? फूल की सुगंध, सूर्य का तेज, चंद्र की कांति, जिन्हें भ्रांत मनुष्य चित्त को प्रफुल्लित करने की सामग्री समझते हैं, वे ही रोगी मनुष्य के लिये पीड़ा पहुँचानेवाली चीजें हैं! समझ में नहीं आता,

इस पृथ्वी पर रहकर मनुष्य क्षणस्थायी सुख की आशा-अभिलाषा क्यों करते हैं ! (थोड़ी दूर पर मृतक को देखकर) सारथी, वह देखो, मार्ग में क्या पड़ा है ? न हिलता है, न डुलता। समझ में नहीं आता, यह जड़ है या चेतन। एक रमणी, जिसके बाल बिखरे हुए हैं, पास बैठी बेबसी जताती हुई रो रही है ! बताओ, यह कैसा शोचनीय दृश्य है ? ओ हो—देखो, देखो—कपड़े से ढककर काठ के समान स्पंदनहीन शरीर को लोग उठाए लिए जा रहे हैं ! यह क्या मामला है ?

सारथी—काल की गति विचित्र है। सुनिए युवराज, यह पहले चेतन था, अब अचेतन है। मृत्यु के स्पर्श से इसकी यह दशा देख पड़ती है। यह महानिद्रा में पड़ा है; यह नींद कभी नहीं खुलने की ! यह अभागा अब आँख नहीं खोलेगा !

सिद्धार्थ—छंदक, मुझसे सच कहो, यह क्या है ? यह क्या इसके कुल की रीति है ? या सबका यही परिणाम है ? क्या मैं भी इसी तरह महानिद्रा के वश होऊँगा ?

सारथी—युवराज, मनुष्य समय-समय पर किशोर, युवा और वृद्ध होकर अंत को इस दशा को पहुँचता है। मनुष्य और जीव-मात्र का यही परिणाम है। मृत्यु साथ ही फिरती है। मालूम नहीं, कब किस पर मृत्यु का आक्रमण होगा। मृत्यु का कोई खास समय नहीं है।

सिद्धार्थ—समझ गया, यह शरीर जलबिंब के समान है; अभी है, अभी नहीं है। इसका गौरव ही क्या है? जल में बुल्ले के समान मनुष्य पैदा होता और मरता है। मृत्यु उसके पीछे रहती है, और वह उसे देख नहीं पाता। और, मृत्यु निश्चित जानकर भी उस पर ध्यान नहीं देता। भ्रांत मनुष्य नश्वर शरीर से सुख की आशा करता है। जान-बूझकर सदा अंधा बना रहता है। न-जाने, किस अलक्ष्य शक्ति के प्रभाव से मनुष्य भूला रहता है। देखकर भी नहीं देखता; जानकर भी नहीं जानता। उसके आचरण से तो यह अनुमान होता है कि वह अनंत समय तक संसार में बना रहेगा; उसकी काया का क्षय ही न होगा! धिक्कार है, धिक्कार है संसार के इस निष्फल प्रयास को! धिक्कार है सुख की आशा को! धिक्कार है इस जीवन को! धिक्कार है इस चेतन को! सैकड़ों बार धिक्कार है इस क्षणभंगुर नर-शरीर को! मैं मन में सोचता हूँ, शरीर मेरा है—सब कुछ मेरा है! मरने के बाद कौन किसका है? वह रमणी हाहाकार किए रो रही है—पर मृत के कानों में उसका शब्द नहीं पहुँचता। अब धरातल से कोई संबंध नहीं है। (भिक्षुक को सामने देखकर) देखो—देखो, यह गेरुए वस्त्र पहने, कमंडलु कर में लिए, प्रशांत-मुख कौन पुरुष धीरे-धीरे चला आ रहा है? बताओ, इसका रहस्य क्या है?

सारथी—यह भिक्षुक सब वासनाओं को छोड़कर द्वार-द्वार फिरता है। भिक्षा से पेट पालता है, और संसार से किसी तरह का वास्ता नहीं रखता। सुख की आशा को तिलांजलि देकर यह निर्जन में ईश्वर को भजता और पूजता है। ब्रह्मोपासना के सिवा इसकी और कुछ कामना नहीं है।

सिद्धार्थ—कहाँ है ब्रह्म ? कहाँ है उसका स्थान ? सुनता हूँ, त्रिभुवन की सृष्टि उसी ने की है। फिर क्यों यह पृथ्वीतल रोग, शोक, जरा, दुःख का आदि आगार है ? दुःखदायक मृत्यु क्यों इस जीवन का परिणाम है ? जीवों ने क्या अपराध किया है, जो बेहद दुःख सहते हैं ? पिता तो कभी संतान की दुर्गति नहीं देख सकता। यह संसार संताप का सागर है, इसमें जीव—विशेषकर मनुष्य—विशेष यंत्रणा सहते हैं। ब्रह्म क्यों नहीं उन्हें उस दुःख से छुड़ाता ? लोग रोग-शोक से पीड़ित होकर जो आर्तनाद करते हैं, वह क्या ब्रह्म के कानों तक नहीं पहुँचता ? या ब्रह्म से सबका दुःख छिपा है ? अथवा सबका दुःख दूर करने की शक्ति ही ब्रह्म में नहीं है ? अवश्य इसका कोई गूढ़ तत्त्व है। शास्त्रों की सब व्याख्या असार, भ्रांति-पूर्ण है। शास्त्रकार अज्ञ और भ्रांत हैं। यदि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, तो वह दयालु कदापि नहीं हैं।—शीघ्र रथ हाँको। मैं पिताजी के पास चलूँगा; उनसे बिदा होकर, आज्ञा लेकर, पृथ्वीतल पर भ्रमण करूँगा, ज्ञान का प्रकाश खोजूँगा। दुःख दूर करने के उपाय

का निर्णय अगर कर सका, तो देश-देश में घूमकर हरएक मनुष्य को उसका उपदेश दूँगा। यह नरलोक की दुर्गति देखकर मेरा हृदय काँप रहा है। अब मुझसे घर में बैठे नहीं रहा जायगा। अब मैं ममता-पाश में नहीं बँधा रहूँगा। मेरे सामने बहुत बड़ा काम पड़ा है; इस जीवन को आलस्य में व्यर्थ नहीं गँवाऊँगा। यह महान् कार्य पूरा करने में अगर मेरा शरीरपात भी हो जाय, तो मृत्यु के समय यह कहकर मैं अपने मन को प्रबोध दूँगा कि मैंने यथाशक्ति उद्योग करने में कसर नहीं उठा रक्खी।

(सबका प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

स्थान—राजमहल की बाहरी बैठक

(राजा और मंत्री)

राजा—यह अवश्य ही देवतों का छल है! वृद्ध, रोगी, मृतक और भिक्षु आए कहाँ से? पहरेदार चारों नाकों पर सावधान थे। हर राह पर चौकसी थी, कड़ा पहरा था। मैं खुद खबरदारी करने के लिये राजमार्ग में मौजूद रहा।

मंत्री—सच है स्वामी, यह दैव-छलना ही है। दिखाई देकर ही वे वृद्ध, रोगी आदि न-जाने कहाँ चले गए! किसी ने उन्हें नहीं देख पाया—पहरेदार खोज-खोजकर हार गए!

आए ही वे न-जाने कहाँ से, और देखते-ही-देखते अंतर्द्धान भी न-जाने कहाँ हो गए!

राजा—यह सब भाग्य की लीला है!—

(सिद्धार्थ का प्रवेश)

सिद्धार्थ—पिताजी, मैं चरणों में प्रणाम करता हूँ। आपसे बिदा होने आया हूँ, दया करके अनुमति दीजिए। मैं चरणों में प्रणाम करता हूँ; आज्ञा दीजिए, ज्ञान की खोज में घर छोड़कर जाना चाहता हूँ।

राजा—वत्स, इस बुढ़ापे में मेरे ऊपर वज्राघात क्यों करते हो? तुम्हारा मुख देखकर सब ज्वाला भूला रहता हूँ। जब से तुमको पाया है, तब से अब पृथ्वी शून्य नहीं देख पड़ती। तुम अंधे के नेत्र और अँधेरे घर के दीपक हो। इस संसार में तुम्हारे सिवा मैं और कुछ नहीं जानता। तुम मेरे सर्वस्व, अमूल्य रत्न और राज्य के भूषण हो। शाक्य-कुल के तुम्हीं एक-मात्र आश्रय हो! यह राज्यसिंहासन लो, और, और भी जो कछ तुमको चाहिए, वह मैं अभी ला दूँगा। पुत्र, बताओ तो, इसी अवस्था में तुमको ऐसा वैराग्य क्यों है? तुम क्यों सर्व-त्याग करना चाहते हो? सोचकर देखो, मेरे और कोई पुत्र भी नहीं है, मैं किसका मुख देखकर धैर्य-धारण करूँगा? तुम्हारे इन वचनों को सुनकर मेरी आँखों के आगे अंधकार छा गया है। बेटा, यह वज्र-

सम वाणी अब न मुँह से निकालो; मेरा हृदय विदीर्ण हो जायगा !

सिद्धार्थ—पिताजी, यह संसार असार है, रोग-शोक का घर है। यहाँ मृत्यु साथ ही घूमती है। आसपास काल मुख फैलाए निगल जाने को तैयार है। यह जवानी, यह सौंदर्य, यह बल सदा नहीं रहने का। फिर मैं क्यों ममता-पाश में बँधा रहकर अपना जन्म नष्ट करूँ ? जवानी सदा नहीं रहती, बुढ़ापा आक्रमण करता है। कोई नियम नहीं है कि कब किस समय काल-दंड सिर पर गिरेगा। यह संसार मेरा नहीं है, इसका मेरा नित्य-संबंध नहीं है। अगर मैं अपनी इच्छा से नहीं छोड़ूँगा, तो दो दिन बाद यह ख़ुद ही मुझे छोड़ देगा। फिर मैं क्यों मोह में पड़ा रहूँ ? हो सका, तो जगत् की दुर्गति हरूँगा, दुःख दूर करूँगा। हे नरनाथ, मैंने इस महान् कार्य का भार लिया है। ऐसे उत्तम कार्य में आप बाधा न डालिए। हे तात, जब शरीर का भी छुटना निश्चित है, तब पुत्र के लिये आप क्यों वृथा माया-मोह में फँसते हैं ? कौन किसका पुत्र है; कौन किसकी पत्नी है ? मैं किसके लिये चिरदिन मोह के अंधकार में पड़ा रहूँ ? पिताजी, परोपकाररूप उच्च कार्य का ख़याल कीजिए, दुर्बलता छोड़कर मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मेरी कामना पूर्ण हो—मेरा उद्योग सफल हो।

राजा—समझ गया, निश्चय ही तुम्हारा हृदय पत्थर का बना हुआ है ! कहाँ कौन राजपुत्र गृह-त्यागी होता है ? जन्म से आज तक तुमने रत्ती-भर भी दुःख नहीं पाया। वही तुम भिक्षुक का वेष धारण करके, भिक्षा-पात्र हाथ में लेकर घर-घर द्वार-द्वार कैसे फिरोगे ? कौन तुम्हें आदर-यत्न के साथ रक्खेगा ? तुम्हीं बताओ, मैं किस हृदय से तुमको विदा करूँ ? बेटा, इस तरह के कठिन वचन मुँह से निकालने की अपेक्षा तो यही अच्छा होगा कि तुम मेरी हत्या कर डालो। हाय, तुम्हारे विना यह राज्य मुझे वन से बढ़कर दुःखदायक हो जायगा ! शाक्य-वंश का विनाश ही क्या तुम्हें अभीष्ट है ? बेटा, यह सर्वनाश क्यों करते हो ? देखो, तुम्हारे गृह-त्यागी होने से सुकुमारी बहू अनाथ हो जायगी। अभी जो पुत्र तुम्हारे उत्पन्न हुआ है, उसे कौन देखेगा ? तुमको पुत्र से अधिक स्नेह से पालनेवाली रानी गौतमी को कौन समझावेगा ? देखो, धन के विना धर्म नहीं हो सकता; और वह धन गृहस्थाश्रम में ही प्राप्त किया जा सकता है। शास्त्र में भी गृहस्थाश्रम को ही सब आश्रमों से श्रेष्ठ माना है। फिर तुम क्यों गृह-त्यागी होना चाहते हो ?

सिद्धार्थ—पिताजी, आप ही बताइए, किस धर्म के आच-रण से जीव को मृत्यु से छुटकारा मिल सकता है ? किस धर्म का पालन करने से काल जवानी को नहीं हर सकता ?

किस धर्मानुष्ठान के करने से मनुष्य पर रोग का आक्रमण नहीं हो सकता ? कौन ऐसा बुद्धिमान् है, जो दान आदि विविध अनुष्ठानों के द्वारा यथार्थ दुःख से मुक्त होने की आशा करता है ? हे प्रभो, संताप दूर करने में कौन सक्षम है ?—पिताजी, इसी से, जीवों को दुःख-संताप से छुटकारा दिलाने के अभिप्राय से, मैं घर छोड़कर जाना चाहता हूँ । मैं सत्य की, यथार्थ उपाय की, खोज करना चाहता हूँ । उस सत्य के माहात्म्य से पाप और दुःख दूर होंगे, पृथ्वी आनंद-धाम बन जायगी, मनुष्यसमाज अखंड आनंद का अधिकारी बनेगा । मैं प्रण कर चुका हूँ कि या वह अमूल्य रत्न प्राप्त करूँगा, और या उसी के उद्योग में शरीर छूटेगा । पिताजी, पुत्र के लिये आप-का शोक वृथा है । कौन जाने, कल ही काल की कराल गति आपको पुत्रहीन कर दे ! फिर क्यों नहीं आप प्रसन्नता-पूर्वक मुझे एक उच्च कर्तव्य का पालन करने की अनुमति दे देते ? सुनिए, मुझसे जीवों की दुर्गति अब और नहीं देखी जाती । मैं जीवों का उद्धार करूँगा, अज्ञान का अंधकार मिटाकर ज्ञान का प्रकाश फैलाऊँगा । हे देव, मुझे इस महाव्रत को ग्रहण करने की आज्ञा दीजिए ।

राजा—हाय पुत्र, मैं कैसा भाग्यहीन हूँ ! मैंने जन्म-भर सुख का मुख नहीं देखा !

सिद्धार्थ—पिताजी, इस संसार में सुख है ही कहाँ ? इसी

से मैं सुख की खोज में जाता हूँ। मैं आपसे सच कहता हूँ, अगर वह अमूल्य रत्न मुझे मिला, तो मैं वह धन आपको अवश्य अर्पण करूँगा। इसे उदार, उच्च कार्य समझकर आप धैर्य धारण करें। मुझे इष्ट-साधन की आज्ञा दें। फिर मैं प्रार्थना करता हूँ, आप अनुकूल हों।

राजा—वत्स, अधिक न कहो। इतने दिन रोया हूँ, और शेष जीवन भी रोकर ही विताऊँगा। आज प्रमोद-भवन में जाओ, कल जो जी चाहे, वह करना।

सिद्धार्थ—आशीर्वाद दीजिए, मन की कामना पूरी हो।

(प्रस्थान)

राजा—हाय, क्या उपाय करूँ? प्राण चले जाने पर शरीर कहीं रह सकता है?

मंत्री—महाराज, हम लोग सब चौकसी रक्खेंगे; राजकुमार को घर छोड़कर जाने न देंगे। आप धीरज रक्खें।

राजा—मुझे कुछ नहीं सूझता, सिर चकरा रहा है। तुम्हें जो उपाय सूझ पड़े, वही करो।—महामाया, तुम कहाँ हो? भाग्यवती, तुम्हें यह दुख देखना नहीं बदा था। (उन्मत्त भाव से) देखो, तुम्हारा पुत्र घर छोड़कर जाना चाहता है!—ना, ना, मेरा पुत्र राजचक्रवर्ती है। ब्राह्मण-वाक्य मिथ्या नहीं हो सकता।—वह—वह देखो, सिंहासन पर मेरा पुत्र विराजमान

है !—कहाँ, कहाँ है मेरा—मेरा सिद्धार्थ ? कहाँ गया मेरा सर्वस्व ?

(मूर्च्छा)

मंत्री—यह क्या—यह क्या ! यह विना मेघ के वज्रपात कैसा ! उठिए-उठिए नरनाथ !—

राजा—(वैसे ही उन्मत्त भाव से) देखो-देखो, इंद्र की पताका उज्ज्वल आभा से आसपास के स्थान को प्रकाशित कर रही है !—हाय-हाय, घोर आँधी ने उसे तोड़कर धरती पर गिरा दिया !—वह देखो, दसों दिशाओं से दिग्गज आ रहे हैं ! उनके पैरों के बोझ से पृथ्वी डगमगा रही है !—देखो-देखो, मेरा पुत्र गजराज के मस्तक पर बैठा है ! आहा, कैसा सुंदर विमान है ! लाखों मणि-मुक्ता उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। चार श्वेत घोड़े उस रथ को लिए चल रहे हैं। रथ पर कौन है ? ठीक-ठीक, मेरा पुत्र ही है। आओ पुत्र, मेरी गोद में आओ। यह क्या ? यह अनिवार्य चक्र कैसा घूम रहा है ? इसमें तो अग्निमय अक्षरों की पंक्तियाँ लिखी हुई हैं। वेग से चक्र घूम रहा है, और उसमें से शब्द निकल रहा है।—यह क्या ? यह घोर नगाड़े का शब्द कैसा ! यह गभीर शब्द तो पर्वत-शिखरों को हिलाए दे रहा है। वज्रपात के समान शब्दवाला यह नगाड़ा कौन बजा रहा है !—वह मेरा सिद्धार्थ फिर देख पड़ा। देखो, धीरे-धीरे मंदिर उठ रहा है।

उसकी चोटी बादलों को फोड़कर ऊपर निकल गई है। उसी चूड़ा पर मेरा पुत्र क्रीड़ा कर रहा है! दोनों हाथों से वह रत्न लुटा रहा है, और जगत् के सब लोग आनंद-पूर्वक उन रत्नों को बटोर रहे हैं। ये विषाद में मग्न छः पुरुष कौन हैं? ये तो दाँत पीस रहे हैं। अब किसके भय से भागे जा रहे हैं?

मंत्री—हाय-हाय! महाराज शायद शोक के वेग से विक्षिप्त हो गए हैं।

पंडित—मंत्रीजी, यह पागलपन का प्रलाप नहीं है। कभी-कभी मनुष्य को दिव्य दृष्टि मिल जाती है, और वह सब भविष्य घटनाओं को देख पाता है। मुझे यह सब ठीक जान पड़ता है। सुनिए, कुमार ज्ञान-ज्योति प्राप्त करेंगे। उस तत्त्वज्ञान की आग से सब भ्रमात्मक शास्त्र भस्म हो जायँगे। राजा ने जो पताका को आँधी से टूटकर गिरते देखा है, उसका रहस्य यही है। दिग्गजों के समान बलवान् सत्य प्रकट होगा। उसी के प्रभाव स राजकुमार सबको जीतकर दिग्विजयी होंगे। बुद्धि के रथ पर चढ़कर संदेह-सागर को नाँघकर युवराज आनंद-धाम को प्राप्त होंगे। अग्निमय अक्षरों से अंकित वेगशाली चक्र विधाता का बनाया संसार-चक्र या काल-चक्र है। मनुष्यों को वही चक्र दिखाकर सिद्धार्थ विधाता के नियम समझावेंगे। वह उच्च स्थान पर बैठकर डंके की चोट सत्य का प्रचार करेंगे—सब मनुष्यों को अमूल्य ज्ञान-रत्न बाँटेंगे। और, छः जन शास्त्र के गर्व

बुद्ध-चरित्र

- गृह-त्याग -

A 4293 Lakshmi Art, Bombay, 8

से गर्वित होकर उनका सामना करना चाहेंगे। लोगों को अनर्गल शिक्षा देकर भ्रम में डालनेवाले वे छहो पुरुष कुमार के प्रताप से परास्त होकर भाग खड़े होंगे। यही सब राजा ने देखा है।

(आकाशवाणी होती है)—"राजनंदन राजचक्रवर्ती होंगे। जय जय बुद्धदेव, जय जय जय !"

पंडित—अकस्मात् होनेवाली देववाणी सुनो।

राजा—कौन कहाँ है, शीघ्र आओ; मेरा पुत्र राजचक्रवर्ती होगा। कौन देखेगा—शीघ्र आओ।

(वेग से राजा का प्रस्थान)

मंत्री—हाय-हाय ! न-जाने क्या होनेवाला है !

(सबका प्रस्थान)

तीसरा दृश्य

स्थान—प्रमोद-भवन का एक अंश

(सिद्धार्थ, उनके पीछे सारथी)

सिद्धार्थ—(स्वगत) यह जीवन क्षणस्थायी है। इसके दो दल हैं, यह आधा अचेतन और आधा सचेतन है। कौन जाने, कब क्या होगा ? इन स्त्रियों को देखो, इन्होंने कुतूहल के साथ नाचा-गाया, विविध वेश और आवेश से कितने ही हाव-भाव दिखाए। उसके बाद कैसा विकृत भाव नजर आता है ! संज्ञा-हीन शव-सम पड़ी हैं। अब वह उत्सव नहीं है, वह कौतूहल नहीं है। निद्रा में अचेत पड़ी हैं। कौन जाने, महानिद्रा में सदा

के लिये अचेत हो गई हैं, या फिर उठेंगी। इस जगत् में विचित्र कुछ नहीं है। वह देखो, नील गगन में पूर्ण चंद्र विराजमान है, पृथ्वी पर अमृतमयी किरणें डाल रहा है। प्रकाश से पृथ्वीतल जगमगा रहा है। कौन जाने, कब घनघोर घटा उठकर उज्ज्वल चाँदनी को ढक लेगी! सब नियमहीन विपरीत खेल देख पड़ता है। मर्म किसी की समझ में नहीं आता! अभी है, अभी नहीं है। ऐसी वस्तु को कौन विज्ञ पुरुष चाहेगा? मनुष्य के संस्कार को धिक्कार है—सौ बार धिक्कार है! मनुष्य मरुभूमि में मृगमरीचिका के पीछे दौड़ता फिरता है। वह आशा की छलना में भूलकर "वह सुख है, वह सुख है," कहता हुआ, उन्मत्त की तरह, सुखाभास का पीछा करता है। सैकड़ों दफ़े ठगाकर भी नहीं सीखता। सैकड़ों बार दुःख पाता है, मगर भ्रांति नहीं जाती। धन्य है संसार का बंधन! मैं जाना चाहता हूँ, वह जैसे पकड़ रखना चाहता है! प्रलोभन मधुर स्वर में कहता है—"आनंदमय घर छोड़कर कहाँ जाते हो तुम भी?"—मन समझकर भी नहीं समझता। अद्भुत बंधन है। मनुष्य निश्चिंत होकर बेख़बर सोता है। दुरंत डाकू काल पल-पल पर परमायु हरण करता है, तो भी नित्य नई-नई कल्पनाएँ हैं, नित्य नए-नए सुख के लिये उत्तेजना है! (सहसा सारथी को देखकर प्रकट) तुम कौन?

सारथी—युवराज, आपका दास।

सिद्धार्थ—हे सारथी, समझ गया, रात को तुम किस काम पर तैनात किए गए हो। मुझे रोक रखने के लिये पहरा दे रहे हो। किंतु तुम्हारे यौवन-जीवन को काल हर रहा है, इसकी भी कुछ खबर रखते हो? शीघ्र घोड़ा तैयार करो; मैं अब इस कारागार में बँधा नहीं रहूँगा।

सारथी—देव, आपके वज्रसम वाक्यों से मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा है। आपके विना राज्य सूना और अंधकार हो जायगा। कुमार, आप घर छोड़कर क्यों जाते हैं? मनुष्य राज्य और धन पाने के लिये कठोर साधना करते हैं; वह सब आपके करतलगत है। फिर किशोर अवस्था में आप क्लेश को क्यों निमंत्रण देते हैं? आप राजा के लड़के ठहरे; फूलों का हार भी शरीर को भार मालूम पड़ता होगा। आप कैसे कठिन संन्यास-व्रत ग्रहण कर सकेंगे? दूध-से बिछौनों पर, फूलों की शय्या पर, आप शयन करते हैं, किंकरियाँ चँवर डुलाती हैं, तब भी आपको नींद नहीं आती। वही आप तरु-तले धरती पर कैसे लेटेंगे? जो दूध, खीर, मलाई आदि उत्तम आहार करनेवाला है, वह भिक्षा के अन्न से पेट पाले, इससे बढ़कर विधि की विडंबना क्या हो सकती है? मेरा कहा मानिए, इस मन के वेग को रोकिए। आपके पिता प्राण-त्याग कर देंगे, आपकी प्यारी पत्नी अनाथ हो जायगी। सुकुमार कुमार का, जो अभी उत्पन्न

हुआ है, लालन-पालन कौन करेगा ? प्रभू, घर में रहकर देवाराधना करिए, शाक्य-वंश को रुलाइए नहीं।

सिद्धार्थ—सारथी, मैं क्या सुख से संसार-वास छोड़ रहा हूँ ? मेरे पिता स्नेह-सागर हैं, सुख से क्या उन्हें छोड़े जा रहा हूँ ? प्राणप्रिया जीवन-संगिनी को क्या सुख से अनाथ किए जा रहा हूँ ? पुत्र की ममता को क्या सुख से विसर्जन कर दिया है ? शाक्यगण मेरे सिवा और किसी को नहीं जानते ; क्या सुख से उन्हें त्याग किए जा रहा हूँ ? तुम्हीं बताओ, अंधों के बीच अंधे होकर रहना क्या बुद्धिमान् का काम है ? विपम विधि-कृत संसार-चक्र में सब मानव फिर रहे हैं, वे रोग-शोक से निरंतर विकल रहते हैं। उनका परिणाम, बस, मृत्यु ही है। वृथा आशा और इंद्रिय-लालसा उन्हें नचाती और अंत को रुलाती है। मैं इस नश्वर भोग-सुख को विसर्जन किए देता हूँ। मैंने मनुष्यों के दुःख दूर करने का काम उठाया है, और उसी को आत्मसमर्पण कर दिया है। धरणीतल के अति क्षुद्र प्राणी तक के दुःख को देखकर मेरा हृदय व्यथित हो रहा है। पृथ्वीतलवासी मनुष्य-मात्र के दुःख-शोक से मेरा आत्मा अत्यंत कातर हो रहा है। मैं मनुष्य ही नहीं, आकाशचारी, जलचर, थलचर आदि सभी प्राणियों के कल्याण की कामना करता रहता हूँ। किंतु कोई उपाय नहीं देख पड़ता। इसी से अब मुक्तितत्त्व की खोज करने जा रहा हूँ।

मैं ज्ञान-रत्न लाकर सब मनुष्यों को अर्पण करूँगा। सत्य के गौरव से सब हिंसा-द्वेष संसार से उठा दूँगा। सभी प्राणी ज्ञान-प्रकाश पाकर परम पुलकित होंगे। छंदक, देखो, वृथा वाक्य-व्यय में ही समय बीता जा रहा है। परमायु यों ही क्षय हो रही है। अब मैं जीवन के दिन और नहीं गँवा सकता। बहुत-सा समय यों ही गँवा दिया है। शुभ कार्य में तुम मेरे सहायक बनो, मोह के वश होकर विरोध मत करो। घोड़े को तैयार कर लाओ। जाओ, शीघ्र जाओ; जगत् का संताप अब मुझसे नहीं सहा जाता।

सारथी—महाभाग, मैं आपकी महिमा क्या समझ सकता हूँ। पृथ्वी का भार उतारकर मानवों का उद्धार करनेवाले पूर्ण अवतार आप मर्त्यलोक में प्रकट हुए हैं। चाहे जो हो, अब मैं आपको नहीं रोकूँगा। केवल यही श्रीचरणों में निवेदन है कि इस दास को स्मरण रखिएगा।

(प्रस्थान)

सिद्धार्थ—(स्वगत) इसी घर में मेरी प्रिया गोद में कुमार को लिए पड़ी है! जाऊँ—देखें जाऊँ। क्या जाने, इस जन्म में अब फिर भेंट हो या न हो! पुत्र का मुख अभी तक नहीं देखा, देखे जाऊँ। हवा से पत्ते की तरह हृदय धड़क रहा है।—प्रिया मेरे सिवा और किसी को नहीं जानती।—धिक्! धिक्! अरे मूढ़ मन, प्रलोभन को जान-

बूझकर भी उधर ही आकृष्ट हो रहा है ? तू बंधन के ऊपर बंधन क्यों जकड़ना चाहता है ? चल, घर-बार संसार छोड़ चल। तेरे सामने बहुत बड़ा कार्य है। ममता में पड़कर महाव्रत को मत भूल। तू क्या नहीं जानता, यह प्रलोभन प्रबल है—इसका परिणाम विष है ! विश्व-प्रेम को ग्रहण कर, दुर्बलता को दूर कर। इस पृथ्वी पर कौन किसका है ? यहाँ हर घड़ी मौत का फेरा और रोग-शोक का बसेरा है। देख-देख, मानस दृष्टि से देख, सब जीव आधि-व्याधि-संताप से व्याकुल हो रहे हैं। जीव जब परोपकार के कार्य में आत्म-समर्पण कर देता है, उसी समय वह मृत्युंजय हो जाता है। बस, इस दुर्बलता और ममता को छोड़ दे; महाव्रत की अवहेला मत कर।

(सारथी का फिर प्रवेश)

सारथी—देव, घोड़ा आपका तैयार खड़ा है। मालूम नहीं, घोड़े को क्या कष्ट है, उसकी दोनों आँखों से आँसू बह रहे हैं, और वह सतृष्ण दृष्टि से वारंवार मेरी ओर ताकता है।

सिद्धार्थ—(स्वगत) पिताजी, विदा ! माताजी, विदा ! प्रणयिनी प्रेयसी, तुमसे भी विदा ! प्रिय कुमार, अगर कृत-कृत्य होकर लौट सका, तो आकर तुम्हें प्यार करूँगा। प्रिय शाक्यगण, तुम सबसे भी विदा होता हूँ। क्षमा करना मेरा अपराध। जीवों के संताप से मेरा हृदय विकल हो रहा है।

(प्रकट) छंदक, चलो। ठहरना ठीक नहीं। जगत् के सब प्राणी कातर होकर मुझे पुकार रहे हैं।

(दोनों का प्रस्थान)

(गोपा और धाय का प्रवेश)

गोपा—धात्री, मेरा जी उचाट हो रहा है, जैसे मेरे हृदय का बंधन विच्छिन्न हो गया है! तुम यहाँ रहकर शिशु की रक्षा करो, मैं प्राणनाथ को देख आऊँ। नित्य बुरे सपने देखती हूँ। आज का स्वप्न और भी भयानक था। जैसे हाथ में कमंडलु लिए पतिदेव भिक्षु-वेश से देश-देश फिर रहे हैं।—यह क्या? यह क्या देख रही हूँ! द्वार खुला पड़ा है! क्या मेरे भाग्य फूट ही गए! प्राणनाथ, कहाँ हो तुम? दर्शन दो, नहीं तो दासी मर जायगी!

(सखियों का प्रवेश)

१ सखी—यह क्या! यह क्या! कहाँ हैं युवराज? शायद दिल्लगी करने के लिये कहीं छिप रहे हैं। चलो, खोज लावें।

गोपा—यही क्या उस महाव्रत की सूचना है? मैं अनाथिनी हो गई। जिन श्रीचरणों की आशा थी, वे मुझे छोड़कर शायद सदा के लिये चले गए! प्रियतम, तुम तो प्यार से मुझे अपनी जीवन-संगिनी, अर्धांगिनी कहा करते थे। फिर क्यों इस तरह छोड़कर छिपकर चले गए? हे गुणनिधि, अगर यह दासी श्रीचरणों के निकट अपराधिनी थी, तो इस कुमार

का तो ख़याल करते ! इस भोले बालक ने क्या अपराध किया था नाथ, जो इसे भी छोड़ गए ? हाय-हाय ! मनुष्य का हृदय भी वज्र-सा होता है, वह सब कुछ सह सकता है। तभी तो ऐसे दुःख में भी यह हृदय विदीर्ण नहीं होता । राजपुत्र को भिक्षुक बनानेवाले विधाता को अधिक क्या कहूँ ? हाय-हाय, जिसके स्वर्णकांति कलेवर में कुसुम-कली के लगने से व्यथा होती है, उसके अंगों में विभूति कैसे सोह सकती है ? ओह, उसकी शय्या पृथ्वीतल, संबल केवल भिक्षा का पात्र, और शीत-ग्रीष्म आदि में अंग का आच्छादन जीर्ण वस्त्र होगा ! सोचने से भी हृदय विदीर्ण होता है ! मैं यहाँ प्रमोद-कानन में वस्त्रों और रत्नाभरणों से भूषित हो रही हूँ । मेरे इस पाषाण-गठित हृदय को धिक्कार है ! —ना, ना, नाथ मेरा कोमल हृदय छल करके कहीं छिपे हुए हैं ।—सखी ! सखी ! वह शायद प्राणनाथ छिपे हुए हैं। वह—वह—प्राणेश्वर हैं !

(वेग से प्रस्थान)

(राजा और गौतमी का प्रवेश)

राजा—हाय पुत्र सिद्धार्थ, कहाँ हो तुम ? अरे निष्ठुर पहरेदार, क्या सचमुच मेरा सिद्धार्थ घर में नहीं है ?

गौतमी—बेटा, मैंने तुझे गर्भ में नहीं धारण किया, इसी से क्या तू मुझे यों ही छोड़कर चला गया ? सिद्धार्थ, तू मेरे हृदय का सर्वस्व, आँचल की निधि और घर का दीपक है ।

बेटा, तू कहाँ है ? मेरी सुकुमारी पुत्र-वधू कहाँ है ? बेटा, प्यारी पत्नी को प्रमोद-कानन में छोड़कर कहाँ चले गए ! हाय-हाय, राजभवन में यह कैसा वज्रपात हुआ ! बेटा, तू तो क्लेश सहना जानता ही नहीं, प्रभात-सूर्य की आभा से तेरा मुख-चंद्र मलिन हो जाता है ! वहाँ वनों में कौन तेरी सेवा करेगा ? आ, घर में आ । मेरे हृदय को शीतल करनेवाले पुत्र, घर में आ । तू तो निर्दय नहीं है । तेरे बिना मेरे प्राण निकले जाते हैं, अपना सुंदर मुख दिखा जा, मेरी दशा देख जा ।

राजा—सिद्धार्थ, सिद्धार्थ ! तुम्हारा प्रिय प्रमोद-कानन आज शून्य पड़ा है ; तुम कहाँ गए ? बेटा, लौट आओ ; अपने वृद्ध पिता का वध न करो ।

(सिद्धार्थ के उतारे हुए वस्त्रों को लेकर सारथी का प्रवेश)

गौतमी—अरे छंदक, मेरे सर्वस्व को तू कहाँ छोड़ आया ? अरे यह किसके वस्त्र लेकर तू लौट आया है ? अरे समाचार तो बता, कुमार कहाँ है ? मैंने जो अमूल्य रत्न पड़ा पाया था, वह कहाँ खो गया ? वह मेरी आँखों का तारा और जीवन का सहारा है । उसे खोकर मैं कैसे धीरज धरूँगी ? क्या वह मुझसे रूठकर चला गया है ? क्या तू उसे बहलाकर घर ले आया है ? उसके बिना मैं कैसे जिऊँगी ? वह तो मेरा सर्वस्व था !

राजा—अरे छंदक, शीघ्र बता, सिद्धार्थ कहाँ है ?

चौथा अंक

पहला दृश्य

स्थान—वन

(वृक्ष के नीचे समाधिस्थ सिद्धार्थ और
सामने दो शिष्य बैठे हैं)

१ शिष्य—आचार्य की कैसी कठोर साधना है ! छः वर्ष हो गए, एक आसन से बैठे हैं। अद्भुत है, अद्भुत ! सात दिन बाद केवल एक बदरी-फल खाते हैं !

२ शिष्य—कैसा कठोर मार्ग है ! हम लोगों से ऐसी साधना नहीं सधती। एक आसन से हम भी बैठ सकते हैं, लेकिन बस, यही कसर है कि भोजन के बाद ज़रा आराम किए बिना जी अलसाने लगता है, शरीर भारी हो जाता है। अवस्था अधिक है कि नहीं, इसी से गुरुजी की भूक भी घट गई है। हम लोग अभी जवान हैं, तो भी घर की अपेक्षा अब कम खाते हैं। घर में पसेरी-भर चट कर जाते थे, यहाँ अब नंबरी सेर का नंबर रह गया है। यह क्या कुछ कम है भैया ? अब पाँच हिस्से का एक हिस्सा रह गया है। कूष्मांडाकार एक फल हो, तो हम भी उसी के आधार पर रह सकते हैं।—समझे ?

१ शिष्य—धीरे-धीरे सब होगा । कठिनता केवल यही है कि आचार्य को कुछ मशक-दंशन सहने का अभ्यास पड़ गया है, और हमसे बिलकुल नहीं सहा जाता ।

२ शिष्य—यही तो विघ्न है, धर्म के मार्ग में विषम कंटक है । वे कान के पास जो विकट घंटा-घोष करते रहते हैं, वही असह्य है । मैं समझता हूँ, मशक-हिंसा शास्त्र-विरुद्ध नहीं है । खून चूसनेवाले का खून करना शठे शाठ्यं की नीति का पालन-मात्र है ।

१ शिष्य—हिंसा का प्रयोजन ही क्या है ? इधर-उधर करवट बदलना ही काफ़ी है—लोटपोट में ही शत-कोटि जीवों की मुक्ति हो जाती है । चलो भाई, भिक्षा के लिये चलना चाहिए, दिन चढ़ आया है । मिष्टान्न-भक्षण करके योगाभ्यास करने में दोष नहीं है । मिष्टान्न से सतोगुण की मात्रा बढ़ती है । राजभवन से मिष्टान्न-भिक्षा लाकर भोग लगाना ही इस समय प्रधान कर्तव्य है ।

२ शिष्य—हाँ-हाँ भैया लंबोदर, इसमें क्या दोष है । देखो, आचार्य महाराज के लिये एक तंडुल रख जाओ । क्या जानें, भोजन की इच्छा उत्पन्न हो, और विलंब हो जाय । आहार अल्प अवश्य है, लेकिन समय पर भोजन नहीं मिलता, तो क्रोध चढ़ आता है । देखो न, उस दिन फिर आहार ही नहीं किया ।

१ शिष्य—अभी तक क्रोध का दमन नहीं कर सके। उस दिन बदरी-फल के लिये हाथ फैलाया; लाने में कुछ देर हो गई; बस, गज़ब हो गया ! तीन दिन तक मौन ही रहे।

२ शिष्य—कठोर आहार में यही तो बड़ा दोष है कि वह रोष बढ़ाता है। शास्त्र कहता है—जठराग्नि और क्रोधाग्नि, दोनों ही अग्नि के स्वरूप हैं—

१ शिष्य—अजी चर्पटचंचुजी, पास तंडुल रखकर चलो। देर हो जायगी, तो फिर राजभवन का फाटक बंद हो जायगा !

२ शिष्य—अगर तंडुल पक्षी खा जायँ ?

१ शिष्य—तो फिर उसमें हमारा अपराध क्या ? हम तो भोजन की सामग्री यथास्थान रख जायँगे—

२ शिष्य—जानते हो भाई, स्वामीजी का स्वभाव उग्र ठहरा, कहीं शाप-वाप न दे बैठें !

१ शिष्य—अजी चलो भी, सब जानते हैं। कल रात को अपनी अच्छी तरह पेट-पूजा नहीं हुई, आज भी देर हो जायगी, तो फिर दिन-भर पेट में चूहे डंड पेलते रहेंगे।

२ शिष्य—चलो भाई, चलो। आहार का कठोर नियम ही ले रक्खा है।

(दोनों का प्रस्थान)

सिद्धार्थ—(आँखे मूँदे हुए, स्वगत) मेरा मस्तिष्क

चक्कर खा रहा है। जान पड़ता है, शरीर छूट जायगा। सत्य-तत्त्व का आविष्कार न हो सका। मनुष्यों का दुःख दूर करने की इच्छा पूरी न हो सकी।—किंतु, जब तक शरीर में प्राण है, तब तक सत्य की खोज से मुँह न मोड़ूँगा, ग्रहण किए हुए व्रत को न छोड़ूँगा। फूल हृदय में सुगंध धारण किए हुए खिलता है, और फिर लोगों में सुगंध बाँटकर आप सूख जाता है। फूल को क्या मृत्यु का भय है? ऊँचे अभ्रभेदी शाल, ताल आदि के वृक्ष सिर ऊपर उठाए वायु के झोंके सहते हैं, आनंद में मगन रहते हैं। देखने से जान पड़ता है, वे मृत्यु को नहीं डरते। तरु मेरे गुरु हैं। उन्हीं से मैंने ताप, हिम, जल, वायु के उपद्रव सहकर निर्द्वंद्व रहना सीखा है। वृक्ष सर्वदा समभाव से रहकर अपने काम को नहीं भूलते। फिर मैं ही कैसे क्षुधा-तृष्णा के कष्ट में अपने कर्तव्य को भूल जाऊँगा? फिर महाध्यान में मग्न होता हूँ। सबकी ममता छोड़ चुका हूँ, फिर जीवन की ममता कैसी?

(शून्य में देवबालाओं का प्रवेश)

देवबाला—(गाती हैं)

गान

प्यार की सुन मीठी झनकार;
तार-तार से बजे वही स्वर, हो करुणा-संचार।
चतुर बजानेवाला जो हो, रीझे सब संसार;

किंतु अनारी के छूते ही छिन्न-भिन्न हो तार।
लगातार बस, विश्व-प्रेम की एक तान हर बार—
सुनो, छोड़ खटराग, मिलेगा ब्रह्मानंद अपार।

(गाते-गाते देवबालाओं का प्रस्थान)

सिद्धार्थ—वाह, कैसा मधुर संगीत है! ये गानेवाली ही मेरी उपदेशिका हैं। इनका उपदेश अनमोल है। जैसे भोग की तृष्णा विषमय है, वैसे ही अत्यंत शरीर-निग्रह भी व्यर्थ है। दोनों मार्ग सत्य-लाभ के उपयुक्त नहीं हैं। मैं अब मध्य का मार्ग ग्रहण करूँगा। न तो भोग में लिप्त हूँगा, और न अतीव कठोर उपायों से शरीर-निग्रह ही करूँगा। यही सनातनधर्म है। शास्त्र का वाक्य है—"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।" धर्म का पहला साधन शरीर है। देह की रक्षा किए विना दिव्य ज्ञान का अनुसंधान कैसे कर सकूँगा? यत्न-पूर्वक देह की ममता छोड़ना उचित है; परंतु देह-रक्षा भी अत्यंत प्रयोजनीय है। पहले मैं भोग-विलास में लिप्त था, उसके बाद वन में आकर कठोर तपश्चर्या की, परंतु फल कुछ नहीं हुआ। अब नियमित आचार करके देखूँ, क्या फल होता है? (उठकर दूसरे वृक्ष के तले बैठना)

(पूर्णा और पायस-पात्र हाथ में लिए सुजाता का प्रवेश)

सुजाता—सखी, जान पड़ता है, मेरा मनोरथ पूरा करने के लिये साक्षात् इस वन के देवता प्रकट हुए हैं।

देखो, यह कौन तेजोमय मूर्ति महात्मा हैं ? यह वृक्ष के नीचे महाध्यान में मग्न देख पड़ते हैं। सात वर्ष हुए, जब इसी वृक्ष के नीचे मैंने कहा था कि अगर मुझे मन के माफ़िक़ पति और पुत्र प्राप्त होगा, तो मैं हर साल पूनो के दिन पायस अर्पण करूँगी। मेरी कामना पूर्ण हुई। जान पड़ता है, स्वयं कल्पवृक्ष प्रकट होकर मेरी पूजा ग्रहण करने को उपस्थित हुए हैं।—भगवन्, यह मेरा उपहार लो, और आशीर्वाद दो कि मेरे पति और पुत्र कुशल-पूर्वक रहें।

सिद्धार्थ—तुम्हारी कामना पूरी हो।

(पूर्णा और सुजाता का प्रस्थान)

(थोड़ी दूर पर दोनों शिष्यों का फिर प्रवेश)

१ शि०—अजी देखो तो, पवित्र पायस उपस्थित है!

२ शि०—इस समय तो पेट भरा है; तीसरे पहर देखा जायगा।

(सिद्धार्थ का प्रस्थान)

१ शि०—यह पायस लेकर गुरुजी कहाँ जा रहे हैं?

२ शि०—शंका न करो, थोड़ी-सी ही चाटेंगे।

१ शि०—ना, ना, लक्षण अच्छे नहीं देख पड़ते।—ए-ए देखो, क्या करते हैं!—ए लो, धर्म ही नष्ट हुआ!

२ शि०—अरे धर्म तो धर्म, बर्तन ही भ्रष्ट कर डाला! एकदम मुँह लगाकर सब पी गए!

१ शि०—नहीं जी, नहीं, अब यहाँ रहना नहीं हो सकता। लोभी के निकट रहने से लोभ की वृद्धि होगी।

२ शि०—मैं भी मन-ही-मन सोचता था कि एक तंडुल या तिल खाकर एक सप्ताह निराहार रहना कैसे संभव है? जान पड़ता है, गुरुजी जिस जगह बैठते थे, उसके नीचे गढ़ा है! चलो, पता लगावें। अब भई यहाँ रहना उचित नहीं, काशी-धाम चलें।

१ शि०—(सिद्धार्थ के आसन के नीचे कुछ न पाकर) तुम भी वज्रमूर्ख हो! यहाँ कहाँ छिपाकर रक्खेंगे, और कहीं रखते होंगे! तुम्हीं विचारो, घड़ी-भर पद्मासन से बैठो, तो पैर झन्ना उठते हैं। एकदम छः-छः साल तक एक आसन से बैठना सर्वथा असंभव है!

२ शि०—ना, ना, शठ के पास रहना उचित नहीं। हम अब अजगर की वृत्ति ग्रहण करेंगे। भिक्षा की कोई ज़रूरत नहीं है। भक्त लोग आपसे आकर अच्छे-अच्छे पदार्थ खिला जायँगे। वहाँ दोनों हाथ लड्डू हैं—विश्वेश्वर के दर्शन और वेद का अध्ययन!

१ शि०—तो भी राह के लिये तो कुछ ख़र्च चाहिए ही।

२ शि०—ऊँः, उसकी क्या चिंता है—गृहस्थों को कृतार्थ करते चले जायँगे।

१ शि०—अरे मूर्ख, काशी तो यहाँ से बहुत दूर है। राह भी जंगली है। वहाँ गृहस्थ कहाँ मिल जायँगे?

२ शि०—हाँ, सो तो ठीक है। अच्छा, तो कहीं कुछ टहलाने से क्या काम न चलेगा? काशी-धाम में पहुँचकर प्रायश्चित्त कर डाला जायगा।

१ शि०—अगर कोई चोर-चोर कहकर पकड़ ले?

२ शि०—अरे, तो क्या इस तरह हाथ सफ़ा करेंगे? रात को लिया और झटपट सटक गए!

१ शि०—वही अच्छा है। यहाँ तो अब नहीं ठहरेंगे—धर्मनाश होगा।

(दोनों का प्रस्थान)

(एक ओर सिद्धार्थ और दूसरी ओर चरवाहे का प्रवेश)

सिद्धार्थ—हे पथिक, इतनी शीघ्रता से कहाँ जा रहे हो? तुम्हारा मुख उदास क्यों है? शरीर से पसीना बह रहा है; वृक्ष के तले विश्राम कर लो।—आहा, तुम्हें क्या दुःख है? आँखों से आँसू क्यों बह रहे हैं?

चर०—ठहरकर क्या करूँ, क्या जान मारूँ है!

सिद्धार्थ—अरे भाई, बात क्या है, कुछ कहो तो सही।

चर०—बात क्या बताऊँ? राजा की आज्ञा भी जानते हो? मैं ग़रीब गड़रिया बकरियाँ पालकर पेट पालता हूँ। उन

पर भी राजा की नज़र पड़ी है ! सब-की-सब बकरियाँ राजा साहब ले लेंगे । शाम तक की मोहलत मिली है । शाम को सब बकरियाँ न पहुँचीं, तो बस, मेरी गरदन पर छुरी फेर दी जायगी । अब आप ही बताइए बाबाजी, मैं क्या करूँ ?

सिद्धार्थ—क्यों, राजा किस अपराध पर तुमसे इतने क्रुद्ध हैं?

चर०—अपराध क्या है, सब मेरे भाग्य का दोष है ! राजा के घर काली-पूजा है, उसी में बलिदान होगा ।

सिद्धार्थ—तुमको बकरियों के दाम तो मिलेंगे ?

चर०—बकरियों के दाम मिलेंगे ? अजी जान बच जाय, तो जानो, सब कुछ मिल गया ! राजा क्या ऐसे-वैसे राजा हैं—डाकुओं के सरदार हैं । बकरियाँ न दूँगा, तो हमारे गाँव में आग लगा दी जायगी । उनकी पूजा भी ऐसी-वैसी नहीं है, एक लाख बकरों की बलि दी जायगी ।

सिद्धार्थ—लाख प्राणियों की हत्या ! चलो भैया, तुम्हारे साथ मैं वहाँ चलूँगा ।

चर०—तुम भी चलोगे बाबाजी ? अच्छी बात है । बकरी-बकरे हों, तो साथ ले चलो । अकेले तुम्हीं जाओगे, तो कहीं तुमको ही पकड़कर न बलि दे दें !—हाय-हाय ! अब मैं क्या करूँगा ? मेरा तो सत्यानास हो गया !

सिद्धार्थ—भैया, तुम रोओ नहीं, मैं चलकर राजा को मना कर दूँगा ; वह तुम्हारे जीव न लेंगे ।

चर०—बाबाजी, तुम किस देस के रहनेवाले हो? तुम हमारे राजा का स्वभाव नहीं जानते?

सिद्धार्थ—तुम डरो नहीं जी, चलो तो।

चर०—बाबाजी, तुम कौन हो? तुम्हारी बातें सुनकर दुःख जैसे दूर भाग गया।

(दोनों का प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

(बिंबिसार राजा का पूजा-भवन। सामने काली की मूर्ति। बिंबिसार, मंत्री और दो ब्राह्मण)

१ ब्रा०—सहस्र-सहस्र बलि का एक होम होगा, तो फिर दस दिन में पूजा नहीं समाप्त होगी। लाख-लाख बलि का एक-एक हवन हो। आचार्यजी, मैं तो इस होम और बलि-दान को कोरा भ्रम समझता हूँ। रुधिर की कीचड़ और जीव-हत्या के सिवा और कुछ हाथ न लगेगा।

२ ब्रा०—मैं यह कहता हूँ कि प्रत्येक बलि में घृत की आहुति, पट्ट-वस्त्र और स्वर्ण-मुद्रा की दक्षिणा तो अवश्य ही होनी चाहिए।

१ ब्रा०—सो तो होगा ही महाशयजी, महाराज कोई कसर नहीं करेंगे। मगर यह तो बताओ, अगर दिन-भर होम ही करते रहोगे, तो फिर पेट-पूजन कब करोगे?

भोजन के ही प्रयोजन से तो यह सब आयोजन हुआ है—समझे ?

२ ब्रा०—घृतकुंभ, पट्ट-वस्त्र और कांचनखंड यदि देवता को अर्पण किया जाय, तो फिर बलिदान की और होम की वैसी क्या ज़रूरत है ? उनके स्थान पर अक्षतों से काम चल जायगा।

१ ब्रा०—मंत्रीजी, बलि के बकरे कहाँ हैं ? बलिदान आरंभ हो।

(दूत का प्रवेश)

दूत—महाराज, एक अद्भुत मनुष्य के साथ गड़रिया द्वार पर उपस्थित है। उसके साथ का आदमी तो कोई देवता जान पड़ता है।

१ ब्रा०—महायज्ञ ठहरा ; न-जाने कितने लोग आते-जाते रहेंगे। बलिदान आरंभ हो।

(सिद्धार्थ का प्रवेश)

सिद्धार्थ—महाराज की जय हो।

बिंबि०—(स्वगत) यह मनुष्य कौन है ? (प्रकट) तुम कौन हो ?

सिद्धार्थ—मैं एक साधारण भिक्षुक हूँ महाराज।

बिंबि०—अच्छा, यज्ञ होने दो ; तुम्हें भी भिक्षा मिलेगी।

सिद्धार्थ—रुधिर की कीचड़ करके किए गए यज्ञ में मैं

भिक्षा नहीं लेने का । महायज्ञ कर रहे हो; भिक्षुक को विमुख न करना ।

विंवि०—मंत्री, कोपाध्यक्ष से कहो, इन्हें कुछ धन-रत्न दे दें ।

सिद्धार्थ—मैं स्वयं महाराज से भिक्षा माँग रहा हूँ, कोषाध्यक्ष मुझे क्या देगा? मैं अन्य कुछ भिक्षा माँगने नहीं आया हूँ । मैं तो केवल यही माँगता हूँ कि पशुओं की हत्या न हो—बस ।

विंवि०—तुम पागल तो नहीं हो? मैं पुत्र की कामना से यज्ञ कर रहा हूँ, उसमें विघ्न डालना चाहते हो? तुम्हारा वेप तो संन्यासी का-जैसा है, फिर अधर्म का उपदेश क्यों करते हो? तुम संन्यासी हो, इसी से क्षमा किए देता हूँ । अगर बलिदान के समय अन्य कोई इस तरह उपस्थित होता, तो मैं अवश्य उसी की बलि देता । जाओ, या खड़े-खड़े चुपचाप महामाया की पूजा देखो ।

सिद्धार्थ—नरेश, तुम पुत्र की कामना से अगर जगदंबा की आराधना करते हो, तो फिर उसमें कोटि-कोटि प्राणियों के वध की क्या आवश्यकता है? वह जगत्-भर की माता हैं, साधारण क्षुद्र कीट तक सभी उनके पुत्र हैं । देखो, यह छागपाल नीरव भाषा में तुमसे फ़र्याद कर रहा है । हे नृप, अगर तुम कृपा नहीं करोगे, तो फिर देवता की कृपा कैसे

प्राप्त करोगे ? जो मनुष्य स्वयं दयाहीन है, उस पर देवता भी दया नहीं करते। राजन्, प्राणियों के वध से तुम्हारे आत्मा को कैसे संतोष होगा ? क्यों प्राणियों के रक्त से पृथ्वी को कलुषित करोगे ? यह छागपाल दुर्बल और दीन है, दया का पात्र है। ये जीव जिह्वाहीन हैं, नहीं तो तुमसे पुकार-कर कहते कि "हे नरनाथ, हम भी आपकी प्रजा हैं; हमारी रक्षा कीजिए।" महाराज, संसार के जीव परस्पर हिंसा में प्रवृत्त होकर अपना सर्वनाश आप करते हैं। वे दुःख-सागर में सदा डूबते रहते हैं। तुम तो विज्ञ हो। विचारकर देखो, हिंसा से कभी धर्मोपार्जन हो सकता है ? हिंसा से देवता कहीं संतुष्ट हो सकते हैं ? महाशय, तुम निश्चय जानो, जगत् में हिंसा से बढ़कर पातक नहीं है। तुममें जब किसी को जिलाने की शक्ति नहीं है, तब तुम किसी के प्राण नष्ट करने का क्या अधिकार रखते हो ? तुम स्वयं दूसरे के हृदय की वेदना का अनुभव अपने हृदय में करो। वाक्य-हीन निराश्रय छागगण को भी मानव की ही तरह प्राण प्यारे हैं। शस्त्र के प्रहार से मनुष्य जैसे व्यथा पाते हैं, वैसे ही वही हाल पशुओं का भी है। अंतर केवल इतना ही है कि वे मनुष्य की तरह अपनी वेदना को व्यक्त नहीं कर सकते। उन्हें मारकर कभी धर्म नहीं हो सकता।—और अगर बिना बलिदान के भगवती को संतोष नहीं होता,

यह समझते हो, तो मुझे बलि दे दो। मैंने बारह वर्ष तक कठोर तपस्या की है। अगर उससे कुछ धर्माचरण हुआ हो, तो मैं आपको वह तपस्या अर्पण करता हूँ। उसके फल से आपको सुपुत्र प्राप्त हो। अगर आपका कुछ पूर्व-कृत पातक हो, जिसके कारण पुत्र नहीं होता, और आप दुःखित रहते हैं, तो उस पाप को भी मैं अपनी इच्छा से ग्रहण करने को उद्यत हूँ। राजन्, अच्छा तो यही है कि आप मुझे बलि देकर दीन पशुओं को प्राण-दान दीजिए। नरनाथ, कहा मानिए, आपका कल्याण होगा, पुत्र गोद में खिलाइएगा, और जीव-हिंसा के महापाप से बच जाइएगा। मैं स्वेच्छा से अपना शरीर आपके कार्य में अर्पण करता हूँ; इससे आप पाप के भागी न होंगे। मेरी विनीत प्रार्थना मान लीजिए।—कहाँ घातक, शीघ्र राजकार्य के लिये मेरा वध कर।

विवि०—महात्माजी, मैं बड़ा ही अज्ञानी हूँ; मुझे क्षमा कीजिए। आपके ज्ञान-गर्भ वाक्यों ने मेरे हृदय के नेत्र खोल दिए; आँखों के आगे से परदा हट गया। समझ गया, हिंसा के समान और पातक नहीं है। आप जगद्गुरु हैं; श्रीचरणों में मुझे भी स्थान दीजिए। अब मुझे पुत्र की कामना नहीं है। राज्य, धन, रत्न आदि की भी लालसा जाती रही। मैं अब संसार छोड़कर आप ही के श्रीचरणों की सेवा करूँगा। आप कौन हैं? अपना परिचय तो दीजिए। आप-जैसा ज्ञानी

पुरुष कभी कोई साधारण मनुष्य नहीं हो सकता । हे देव, अपना यथार्थ परिचय देकर कृतार्थ कीजिए ।

सिद्धार्थ—सुनो राजन्, जीवों की दुर्गति देखकर मुझसे रहा नहीं गया, इसी से घर छोड़कर ज्ञान की खोज में निकला हूँ । मैं भी राजा का इकलौता बेटा हूँ । मेरे यहाँ भी असंख्य धन-रत्न भरा पड़ा है । मैं धन, राज्य, पुत्र, प्राणप्रिया पत्नी आदि सब कुछ छोड़कर घर से निकल पड़ा हूँ । आशीर्वाद दीजिए, मेरी इच्छा पूर्ण हो, और मैं जीवों का दुःख-संताप दूर कर सकूँ । नरनाथ, आप कल्याण-पूर्वक यहीं रहिए; मैं भी यथेष्ट स्थान को जाता हूँ ।

बिंबि०—प्रभो, मैं भी आपके साथ जाऊँगा । अगर आप साथ न लेंगे, तो मैं अपनी जान दे दूँगा ।

सिद्धार्थ—हे भूपाल, कहा मानो । क्यों अकारण राज्य-ऐश्वर्य का त्याग करोगे ? प्रेम-पूर्वक प्रजा का पालन करो । अगर मेरा जन्म सफल हुआ, मैं अपने प्रयत्न में कृतकार्य हुआ, ज्ञान-रत्न मुझे मिल गया, तो मैं सत्य कहता हूँ, वह दुर्लभ अमूल्य रत्न अवश्य तुमको दूँगा । देखो महाराज, अब समय व्यर्थ बीत रहा है, मुझे जाने दो ।

बिंबि०—मंत्री, शीघ्र मेरे राज्य में यह घोषणा कर दो कि आज से कहीं कोई जीव-हिंसा न करे । मेरे कोष से रत्न निकालकर दीन दरिद्रों को बाँटो । इससे बढ़कर और कोई

देव-पूजा नहीं है। पहले की भ्रांत धारणा आज सच्चे साधु के दर्शन से दूर हो गई।

(प्रस्थान)

१ ब्रा०—भला मंत्रीजी, ब्राह्मण-भोजन और हमारे गोदान में तो कोई बाधा नहीं पड़ेगी?

मंत्री—आप धीरज धरें; आप लोग प्रसन्न कर दिए जायँगे।

(प्रस्थान)

२ ब्रा०—तो फिर बस, पूजा तो समाप्त हो गई; अब हम लोग भी चल दें, महम्माई को विश्राम करने दो।

१ ब्रा०—विडंबना, घोर विडंबना! यह अकाल-कूष्मांड न-जाने कहाँ से बीच में आ टपका! बहुत दिनों से बकरिका-मांस नहीं रसना ने चक्खा था। आज आसरा लगा रक्खा था, सो यह विडंबना हो गई!

(प्रस्थान)

तीसरा दृश्य

स्थान—तरुतल

(एक स्त्री का प्रवेश)

स्त्री—पिताजी, जान पड़ता है, अब मेरे पुत्र के बचने का कोई उपाय नहीं है!

सिद्धार्थ—हे कल्याणी, तुम कौन हो ? किस प्रयोजन से मेरे निकट आई हो ?

स्त्री—पिताजी, क्या आप अपनी कन्या को भूल गए ? पुत्र के जीने की आशा से मैं सेवा में आई थी, तब आपने मुझसे काले तिल लाने को कहा था।

सिद्धार्थ—हाँ, तो क्या तुम ऐसी जगह से काले तिल ले आई हो, जहाँ कभी मौत न पहुँची हो ?

स्त्री—मैंने बहुत खोजा, मगर ऐसा स्थान कोई न मिला, जहाँ मृत्यु का फेरा न हुआ हो। हर घर में, हर कुटीर में, हर मनुष्य से मैंने पूछा, मगर यही मालूम हुआ कि सर्वत्र मृत्यु के चरण पहुँच चुके हैं।

सिद्धार्थ—फिर तुम्हीं क्यों वृथा पुत्र की मृत्यु टालने का यत्न कर रही हो ? देखो, काल बड़ा बली है। मृत्यु के आक्रमण से कोई नहीं बचता। जिस कष्ट को कोई रोक नहीं सकता, जो कष्ट सभी को एक दिन भोगना पड़ता है, उसके लिये तुम्हारा रोना-धोना वृथा है माता। शोक की एक-मात्र औषध धैर्य है, बस !

स्त्री—पिताजी, यह ठीक है। मैं आपके उपदेश का मर्म समझ गई। परंतु फिर भी जी नहीं मानता, क्या करूँ ?

(प्रस्थान)

सिद्धार्थ—हाय ! घर-घर यही हाहाकार सुन पड़ रहा है।

कब वह दिन होगा, जब मैं अमर होने की दवा ढूँढ़ निकालूँगा, और सब जीवों को बाँट सकूँगा। क्या मेरा यह उद्योग निष्फल ही जायगा? मेरा हृदय तो मुझे उत्साहित करता हुआ कह रहा है कि मुझे अवश्य सफलता मिलेगी। मैं अब संशय को अपने हृदय में स्थान ही न दूँगा। ज्ञान के प्रकाश से दुःख के अंधकार को दूर करूँगा। जीवन रहते कभी इरादा नहीं छोड़ूँगा।

(प्रस्थान)

चौथा दृश्य

स्थान—वन

(जंबू-तरु के तले बैठे हुए सिद्धार्थ)

सिद्धार्थ—आज जान पड़ता है, विश्व-भर में आनंद छाया हुआ है। जैसे सभी जीव-जंतु कह रहे हैं कि 'आज दुःख दूर होगा।' जल, स्थल, आकाश, वायु, पृथ्वी आदि सब जैसे महाआनंद से यह कह रहे हैं कि 'संसार में आज ज्ञान की ज्योति प्रकाशित होगी।' अज्ञात संगीत की ध्वनि कानों में प्रवेश कर रही है। मेरा मन जैसे मनुष्य-लोक में है ही नहीं। मैं जैसे यह भूला ही जा रहा हूँ कि मैं कौन हूँ, और कहाँ हूँ। मेरे प्राण, देह से विस्तृत होकर, जैसे त्रिभुवन में व्याप्त हो रहे हैं। यह कैसे नवीन भाव का आविर्भाव है? या तपस्या का

प्रभाव है ? अब मैं तब तक समाधिस्थ रहूँगा, जब तक ज्ञान-लाभ न होगा। (समाधिस्थ होना)

(मार का प्रवेश)

मार—रही-सही आशा भी जाती रही ; यह तो ध्यान में समाधि लगाकर बैठ गए ! अब क्या उपाय करूँ ? मेरी बातें तो इनके कानों तक पहुँचेंगी ही नहीं। (प्रकट) वत्स, तुम राजा की संतान हो। तुम्हारी यह दशा देखकर मेरी तो छाती फट रही है। किस लिये वृक्ष के तले तुम यह समाधि लगाए बैठे हो ? जाओ, लौट जाओ। तुम्हारी प्यारी पत्नी अनाथ हो रही है। वह दिन-रात शोक-सागर में डूबी रहती है। तुम्हारे पिता मृतप्राय हो रहे हैं, माता पृथ्वी पर लोट रही हैं। जो चीज़ है ही नहीं, उसकी उपासना व्यर्थ है। जो आकाश-कुसुम-समान है, जिसे कभी किसी ने देखा ही नहीं, उसे क्यों वृथा खोज रहे हो ?

सिद्धार्थ—दूर हो रे छाया-प्रतारक ! मुझे प्रलोभन मत दिखा। वह दूर पर ज्ञान की ज्योति है, जिसे मैं मानस-दृष्टि से देख रहा हूँ। मैं उस ज्योति को लाकर अपने हृदय में स्थापन करूँगा।—आहा, कैसी विमल-उज्ज्वल ज्योति है !

(संदेह का प्रवेश)

संदेह—ज्ञान अगर चाहते हो, तो उसका मार्ग क्या यहाँ

है ? तुम कैसे बुद्धिमान् हो, बारह बरस तो इस राह पर चलकर देख लिया, तुम्हारा मनोरथ कहीं सिद्ध हुआ ?

सिद्धार्थ—अरे नीच संशय, यहाँ से हट । तू मुझे मेरे मार्ग से डिगा नहीं सकता ।

संदेह—अरे बाप रे ! मैं मरा—मैं मरा !

(प्रस्थान)

(कुसंस्कार का प्रवेश)

कुसंस्कार—देखो तो, यह कैसा मूर्ख है । वेद-विधि का लंघन करके, शास्त्र के वचनों को न मानकर, महाध्यान में मग्न होकर नवीन मार्ग का आविष्कार करना चाहता है । महाअपराध से इसका अवश्य अधःपात होगा । यह देवता, ब्राह्मण, गुरु आदि को नहीं मानता । ऐसा अहंकारी क्या कभी निस्तार पा सकता है ?

सिद्धार्थ—जा रे जा, मोह सदा अंधकार में निवास करता है । दूर हो, तेरा स्थान यह नहीं है ।

(कुसंस्कार का प्रस्थान)

(राग, अराति, काम, और गोपा के वेष में रति का प्रवेश)

गान

आयो बसंत, शोभा अपार ; है भौंर-भीर तरु डार-डार ।
डोलत मलयानिल मंद स्रोत ; बिचलित विरहीजन-चित्त होत ।
कोकिला-कूक हिय हूक-हूक ; मारत मनोज ज्यों सर अचूक ।
है जगत काम-बस चार ओर ; छुटि गए मुनिन के व्रत कठोर ।

रति—प्राणनाथ, रक्षा करो, काम-ज्वाला-ज्वर जर्जर कर रहा है। हम दोनों प्रेमी परस्पर हिले-मिले—मुख से मुख और छाती से छाती लगाए—सदा रहते थे ; मधुर बातें किया करते थे ; कुंज-वन में शुक और सारिका की तरह सुखी रहते थ। हाय, वह वैसा सुख तुम कैसे भूल गए ! देखो, फूल अपनी सुगंध से मस्त हो रहे हैं ; वसंत-वायु चल रही है; कोकिला बोल रही है। आओ, मुझे हृदय से लगाओ। हम दोनों प्रेम का रण ठानें। नेत्र-बाणों से एक दूसरे को घायल करें, आलिंगन-पाश में कसकर बाँधें।—

सिद्धार्थ—दूर हो दुराचारिणी ! तू प्रिया का रूप रखकर आई है, इस कारण तुझे शाप न दूँगा। ज्ञानप्रार्थी मनुष्य ऐसी बातों में नहीं आते।

सब—हाय रे ! हम क्यों आए ! आग में जल जायँगे !

(सबका प्रस्थान)

(आँधी-पानी और वज्रपात होना)

(मार और उसके साथियों का फिर प्रवेश)

विघ्नकारीगण—

गान

उथल-पुथल हलचल हो भारी, आ आँधी तूफ़ान।
कड़कड़-कड़कड़ बिजली चमके, चलें वज्र के बान।
बरसें बिकट बूँदियाँ बादल, किए प्रलय-सामान।
विह्वल हों जल-थल के बासी, दुनिया हो सुनसान।

मौत फिरे मतवाली, कर दे जगत मसान-समान।
चंद्र, सूर्य की ज्योति बुझाकर, राज करे शैतान।

(मार के सिवा सबका प्रस्थान)

मार—माया सब मिट गई! मेरा अधिकार गया!

(प्रस्थान)

सिद्धार्थ—यह क्या है! मैं यह क्या देख रहा हूँ! असीम, अनंत स्थान में क्रमशः उज्ज्वल-से-उज्ज्वलतर सैकड़ों ही विश्व-ब्रह्मांड जल-बिंब की तरह दिखाई दे रहे हैं। सैकड़ों विशाल भुवन चक्कर खा रहे हैं, जिनकी गणना नहीं की जा सकती। उनकी रक्षा के लिये किरण-शरीरधारी देव-दूतगण फिरते हैं। विचित्र नियम है। भिन्न-भिन्न सब लोक एक ही नियम के अधीन हैं! अंधकार को फोड़कर प्रकाश प्रकट हो रहा है। क्रमशः अचेतन सचेतन में और स्थूल शून्य में लीन होता है। शून्य से फिर स्थूल की सृष्टि होती है। मृत जीवित होता है। जीवन मरण को ग्रस लेता है। महाशक्ति बराबर मिटाने और बनाने का काम करती रहती है। यह शक्ति निरंतर ह्रास और वृद्धि से हीन होकर अपना काम कर रही है।—हे सत्य; आओ, मेरे हृदय पर अधिकार करो। नश्वर नयन, जाओ, जाओ; क्षुद्र दृष्टि, अब तेरा प्रयोजन नहीं है। (योग-बल से आकाश में उठना) यही सत्य है! दुःख छाया के समान जीवन का साथी है। जीवन-भर में उसका त्याग नहीं

किया जा सकता । जब तक प्राण रहेंगे, तब तक उसका निवारण नहीं हो सकता । जन्म, वृद्धि और मृत्यु—ये केवल शरीर की अवस्थाएँ हैं । द्वेष या प्रणय, आनंद या यंत्रणा—ये केवल मानसिक अवस्था के भेद हैं । जब तक ज्ञान के नेत्र नहीं खुलते, जब तक यह बोध नहीं होता कि यह सब माया का प्रपंच है, तब तक सुख-दुःख का भोग नहीं जाता। जो पुरुष इस अविद्या-जनित छल को जानता है, उसकी जीवन की ममता छूट जाती है । माया की छलना से संहार का उदय होता है । पंचभूत मिलकर जीव के ज्ञान की सृष्टि करते हैं । जीव के ज्ञान से तृष्णा की उत्पत्ति होती है । उसकी संतान वेदना है । उस तृष्णा को चाहे जितना बुझाओ, वह नहीं बुझती । जैसे घी की आहुति पड़ने से आग बढ़ती है, वैसे ही वह भी बढ़ती ही रहती है । आमोद का प्रयास, उच्च आशा, धन और यश की चाह आदि बातें तृष्णा की आग में घी की आहुति-सी हैं । ज्ञानी जन यत्न-पूर्वक उस तृष्णा को मन से दूर करते हैं । दुःख-सुख का भोग कर्मों का फल है । वे लोग हृदय में धैर्य धारण करके कर्म-भोग को भोगते हैं । इस तरह निग्रह करने से इंद्रियाँ वश हो जाती हैं, और उससे क्रमशः कर्मों का नाश होता है । कर्मों का ध्वंस होने पर पवित्रता अपना अधिकार जमा लेती है । उस समय वह निर्विकार, उपाधि-रहित हो जाता है, अविद्या स्वप्न की तरह

मिट जाती है। वह फिर देव-दुर्लभ, अतुल वैभव, जो जरा-मृत्यु-हीन निर्वाण-रत्न है, उसे प्राप्त करता है।—जान गया, जान गया, मैं पूर्वतन बोधिसत्व-वंश में उत्पन्न बुद्ध हूँ। न मेरा नाम है, न जन्मभूमि है, न गोत्र है, न जाति है, न वर्ण है, न जीवन है! बस, सर्वत्र सब ओर ज्ञान का प्रकाश है—ज्ञान का प्रकाश है; अब अज्ञान का अंधकार नहीं रहा।

(कुछ नर-नारियों का प्रवेश। सब गाते हैं)

गान

आनँद-उत्सव आज मनाओ;
तमोमयी अज्ञान-अँधेरी दूर भई, प्रभु के गुन गाओ।
ज्ञान-अरुन को उदय भयो, अब भय न कछू, निर्भय बनि जाओ;
शुद्ध बुद्ध ज्ञानी को सब ही प्रानी प्रेम-सहित अपनाओ।

(सबका प्रस्थान)

पाँचवाँ अंक

पहला दृश्य

स्थान—वनभूमि

(ब्राह्मण, डाकू और बनिया)

ब्राह्मण—भैया, मैं ब्राह्मण हूँ, तुमको आशीर्वाद करता हूँ, बहुत दिन जियो, तुम्हारी बढ़ती हो । तुमको धर्म की रक्षा करनी ही होगी । और, देखो, तुम्हें विशेष लाभ भी होगा । यह आदमी मेरा शिष्य है, जो कि महाधनाढ्य बनिया है । अगर तुम उस पाजी, पापी, पाखंडी वैरागी को दंड देकर भगा सकोगे, तो मैं तुमको एक कोटि सुवर्ण-मुद्रा दिलाऊँगा । वह दुष्ट लड़कियों और लड़कों को पकड़ ले जाता है । देखो न, मेरे इस शिष्य के एक ही संतान है, जो इसके अतुल ऐश्वर्य की अधिकारिणी है, उसे पकड़ ले जाकर उस दुष्ट ने मूड़ लिया !

डाकू—क्यों, क्या उसने अपना जत्था बना रक्खा है ?

ब्राह्मण—और कह ही क्या रहा हूँ ?

डाकू—उसके जत्थे में पहलवान कितने हैं ?

ब्राह्मण—पहलवान नहीं हैं जी । उसने तो धर्म का नाश

करने के लिये जत्था बनाया है—पहलवान-वहलवान कोई नहीं है।

डाकू—तुम पागल तो नहीं हो? पहलवानों और लठैतों के बिना कहीं जत्था होता है? वह खुद भी एक भारी पहलवान या लठैत होगा। अगर वह पहलवान या लठैत नहीं है, तो फिर तुम ही दल-बल के साथ जाकर क्यों नहीं उसे मार डालते? यहाँ क्यों आए हो? जाओ, जाकर पता लगाओ, उसके साथ ज़रूर पहलवान और लठैत होंगे! अगर पहलवान और लठैत साथ में न होते, तो वह इस तरह देश-विदेश में घूम सकता था भला? मैं भी इसका पता लगाऊँगा। क्या नाम बताया, बुद्धि, या वधिया?

ब्राह्मण—अरे वधिया नहीं, उसका नाम है बुद्ध। उसके पास पहलवान या लठैत एक भी नहीं है। वह न-जाने क्या जादू जानता है, कुछ समझ में नहीं आता। इन्हीं दो-तीन महीनों में उसने देश-भर को नास्तिक बना डाला है।

डाकू—ओहो, समझ गया, महराजजी। किसी राजदरबार में विदाई के लिये तुम दोनों में झगड़ा हो गया है। क्षमा करो महराज, वह भी तो ब्राह्मण है!

ब्राह्मण—वह ब्राह्मण कभी नहीं है।

बनिया—(डाकू से) भैया, मेरे एक ही लड़का है, उसे वह फुसला ले करोड़ अश-

र्फ़ियाँ दूँगा ; किसी तरह मेरे लड़के को उसके चंगुल से छुड़ा दो।

डाकू—कुछ समझ में नहीं आता। वह तेरे लड़के को फुसला ले जाकर क्या करेगा? क्या सिद्ध होने के लिये काली मैया के आगे उसका बलिदान करेगा?

ब्राह्मण—अरे भाई, यह कुछ नहीं। उसका मतलब पंथ बढ़ाकर धर्म का नाश करना है।

डाकू—तो क्या उसे बेच डालेगा? या बेधरम कर डालेगा? क्या वह फुसलाकर रुपए-पैसे ठग लेता है?

बनिया—अजी नहीं, कह तो दिया, वह सबको नास्तिक बनाता है। कहता है—पूजा-पाठ से क्या होगा? देवी-देवतों की पूजा-सेवा करना बेकार है।—समझे?

डाकू—और यह भी तो तुमने कहा था कि लड़कियों को निकाल ले जाता है?

ब्राह्मण—हाँ, न-जाने क्या जादू करता है कि हज़ारों लड़कियाँ और औरतें जाकर उसके पैरों पर गिरती हैं। हाय-हाय! धर्म का नाश हो गया—अब कोई स्त्री व्रत नहीं रखती, पूजा नहीं करती।

डाकू—यह नहीं। मैं पूछता हूँ, उसने किसी का धर्म बिगाड़ा है?

ब्राह्मण—अरे तुम्हारी तो समझ में आता ही नहीं।

कहता तो हूँ कि मर्दों और औरतों को बहँकाकर अपना दल बढ़ाता है।

डाकू—(बिगड़कर) किसी को ठगता भी नहीं, किसी का धर्म भी नहीं बिगाड़ता, किसी की जान भी नहीं लेता, और विदाई के लिये किसी से झगड़ा भी नहीं करता, तो क्यों रे पाजी! तू क्या हमको धोका देकर पकड़ा देने के लिये आया है? समझ गया, तुम दोनों जासूस हो, मेरे दल को पकड़वाकर फाँसी दिलाने का इरादा करके आए हो! अरे कोई है? पकड़ लो इन सालों को, और लटका दो फाँसी पर!

ब्राह्मण—दुहाई है डाकू बाबा, मैं झूठ नहीं कहता! मैं दगा करने के इरादे से नहीं आया हूँ।

डाकू—मैं सब समझता हूँ। बाँधो सालों को!

बनिया—(काँपता हुआ) दुहाई है हजूर डाकू साहब!

डाकू—चुप! नहीं तो अभी सिर धड़ से अलग कर दूँगा। अपने घर को चिट्ठी लिख, दो करोड़ मोहरें मँगा दे, तभी जान बचेगी।—और, अरे पेटू महराज, जो कुछ तेरे पास हैं वह तू भी बाएँ हाथ से रख दे, तो छोड़ूँगा।—अरे, छिप तो जाओ, छिप तो जाओ; यह कौन आदमी इधर आ रहा है?

ब्राह्मण—(देखकर) यही है, यही है वह पाजी बुद्ध! इसका खून कर डालो; जो माँगोगे, वही मिलेगा।

डाकू—ज़रूर ये साले गोइंदे हैं। दो पहले आए और एक पीछे! आज सब सालों को बलि चढ़ाकर काली माई का खप्पर भरूँगा।

(सबका छिप रहना)

(एक ओर से काश्यप और दूसरी ओर से सिद्धार्थ प्रवेश करते हैं)

काश्यप—कहाँ जाते हो इधर हे पथिक? यहाँ निर्दय, निष्ठुर डाकू रहते हैं। लौट जाओ, नहीं तो व्यर्थ प्राण गँवाओगे। मुझे ये लोग तपस्वी जानते हैं, इसी से मेरी हत्या नहीं करते। किंतु तुमको बचाने की शक्ति मुझमें नहीं है। देखता हूँ, तुम्हारा शरीर मनोहर है, तेज बरस रहा है। तुम-में राजचक्रवर्ती के सब लक्षण हैं। मुझे तो जान पड़ता है, यह तुम्हारा छद्मवेष है। लक्षणों को देखने से तो राज-कुमार प्रतीत होते हो। तुम्हारा यह पहनावा भी बिलकुल नया है। किसी संप्रदाय के लोग ऐसा परिच्छद नहीं धारण करते।

सिद्धार्थ—महाशय, बहुत परिश्रम करके मैंने अमूल्य और दुर्लभ रत्न पाया है। दस्युगण संसार के साधारण धन-रत्न के लिये घूमते हैं, हत्या-रूप घोर पाप करते हैं। मैं उन्हें वह अमूल्य रत्न देकर संतुष्ट करूँगा, उनके पाप-ताप हरूँगा।

काश्यप—तुम डाकुओं को रत्न बाँटने आए हो?

सिद्धार्थ—महात्मन्, मैं राजा, प्रजा, दीन-दुखी, सुखी, सज्जन, दुर्जन, जिसे देखूँगा, उसे ही वह रत्न दूँगा। इसी के लिये मैं देश-देश में फिर रहा हूँ।

काश्यप—(स्वगत) यह क्या पागल है ? (प्रकट) तो फिर वह रत्न मुझे क्यों नहीं देते ?

डाकू लोग—(नेपथ्य में) अरे, पकड़ो-पकड़ो, बाँध लो, इसके पास बहुत-सा धन और अनमोल रतन हैं।

(डाकुओं का प्रवेश)

सिद्धार्थ—भाइयो, मैं आप ही यहाँ आकर उपस्थित हुआ हूँ; तुम लोग मुझे क्यों बाँधोगे ? और अगर मुझे बाँधने से तुम्हारा कुछ प्रयोजन निकले, तो पकड़ो और बाँधो ; मैं मना भी नहीं करता। किंतु मेरी कामना पूर्ण करो, और मैं जो अक्षय धन लाया हूँ, उसे ग्रहण करो।

डाकू—ला, दे, कहाँ है तेरा धन ?

सिद्धार्थ—वत्स, ज्ञान-रत्न अर्पण करने के लिये मेरा यहाँ आगमन हुआ है। जिसे उसका प्रयोजन हो, वह उसे ले। उससे अज्ञान का अंधकार दूर हो जायगा, चित्त से विकार खो जायगा। देखो, मनुष्यगण सब सुख की आशा से भटक रहे हैं। सोचकर देखो, पृथ्वी पर कौन सुखी है ? कोई धन में सुख देखता है, कोई रमणी के रमणीय रूप को सुख का आकार समझता है। अविद्या या माया मनुष्य को नित्य नचाती है।

मनुष्य सुख के लिये मारा-मारा फिरता है। परंतु सुख कहाँ है? अंत को वह एक दिन मृत्यु के मुख में चला जाता है। धन, जन, प्रणयिनी स्त्री आदि सब इष्ट पदार्थों को यहीं छोड़ जाना पड़ता है। किसी का भी निस्तार नहीं है! फिर सुख के लिये वृथा परिश्रम क्यों? वृथा धनोपार्जन का प्रयत्न क्यों? मनुष्य जंगली जानवरों की तरह वन में वास क्यों करे? काल पल-पल पर परमायु को ग्रसता चला जाता है! निराशा को ख़रीदने के लिये इतना आयास क्यों करें? अनिवार्य कालचक्र लगातार घूमता रहता है। बतलाओ, संसार में कौन किसका है? जीव दुःख के सागर में बह रहा है। तथापि भ्रांत मन अक्षय धन को छोड़कर इंद्रिय-लालसा में लगातार लगा रहता है! अरे जीव, और कब तक अंधा बना रहेगा? खोल नेत्रों को, देख नित्य अक्षय धन को, छोड़ दे अनित्य सुख की अभिला-ा को! माया के विकार में भोग-तृष्णा कब तक बनी रहेगी? अरे मूढ़, क्यों दिन-रात चिंता के दावानल में दग्ध होता है? जब तक तृष्णा का अंत न होगा, तब तक कर्म-भोग बढ़ेगा, और तू अनंत काल तक दुःखमय जन्म-मरण के चक्र में चक्कर खायगा! इसलिये इस नवीन राज्य में आ। यहाँ चिरशांति विराजमान है; रोग, शोक, मृत्यु का भय नहीं है; सदा सर्वत्र आनंद-ही-आनंद है। यहाँ प्रलोभन नहीं है; हिंसा का कीट नहीं काटता; आशा दुःख के सागर में नहीं

गिराती। यहाँ परम पुलक के साथ निर्वाण के प्रकाश में अमृत-जीवन का लाभ होता है।

डाकू—अरे, अरे, यह क्या कहता है! अरे, यह क्या जादूगर है? यह क्या जादू है? मुझसे चला भी नहीं जाता—पैर ही नहीं उठते!—प्रभु, यह क्या किया? अब मैं पकड़ लिया जाऊँगा, मुझे फाँसी होगी! जेलखाने का डर मुझे बेहोश बनाए देता है!

सिद्धार्थ—जिसका हृदय मुक्त है, स्वतंत्र है, उसे भय कहाँ! उसे कौन फाँसी दे सकता है? कौन क़ैद कर सकता है? मुक्त पुरुष के लिये पाश-बंधन या त्रास कोई चीज़ नहीं! वह स्वयं आनंद का आगार है, नित्य सुख का धाम है, पूर्ण-काम है, उसके हृदय में अविराम शांति निवास करती है।

डाकू—प्रभु, मैं आपके श्रीचरणों में शरणागत हूँ; मुझे महाभय से छुड़ाइए। मुझे दिन-रात, सोते-जागते, चलते-फिरते शंका लगी रहती है। पत्ता खड़कने से भी मैं समझता हूँ, राजा के कर्मचारी मुझे पकड़ने आ रहे हैं। क़ैदख़ाना मेरी आँखों के आगे नाचा करता है; राजदंड हर घड़ी डराया करता है। प्रभु, मुझे इस महाभय से उबारिए—मेरा उद्धार करिए!—अरे, इन दोनों के बंधन खोल दो, यहाँ हिंसा-द्वेष न रहने पावे!

सिद्धार्थ—ज्ञानमय हृदय की आँखें खोलकर देखो—

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध क्रीड़ा कर रहे हैं; किंतु अभिमानी मन उस क्रीड़ा को अपनी क्रिया समझता है। यह मन पंच महाभूतों की छलना से पागल होकर सैकड़ों पाप-कर्म करता है, और फिर कर्म-फल भोगता हुआ अनेक प्रकार से संताप का भागी होता है। इंद्रियों की छलना में पड़कर अब मत भूलो। सुख की आशा में मत मग्न हो। इससे निरंतर आनंद का लाभ होगा। हृदय में "अहिंसा परमो धर्मः" इस महावाक्य को स्थान दो; फिर तुमको किसी से हिंसा का भय न रहेगा। संशय को छोड़ो, हृदय को पवित्र करो, तो भव का भय नहीं रहेगा।

डाकू—प्रभू! प्रभू! मैं आपका दास हूँ। आपकी ही कृपा से मेरा उद्धार हुआ।

काश्यप—तुम्हारा यह कैसा उपदेश है? मैं अहिंसा को परम धर्म स्वीकार करता हूँ; किंतु देव-पूजा में तो जीव-हिंसा किए विना काम नहीं चल सकता। बलि के विना देव-पूजा कैसे पूर्ण होगी? मैं अग्निदेव की पूजा में नित्य बलि-प्रदान करता हूँ। शास्त्र का वचन है, अग्निदेव बलि-दान से संतुष्ट होते हैं। तुम शास्त्र-वचन के उल्लंघन का उपदेश देते हो?

सिद्धार्थ—अगर देवता बलि-दान से संतुष्ट होते हैं, तो तुम्हीं बताओ, दैत्यों का आचरण क्या है? देवता कर्म-फल को अन्यथा करने में असमर्थ हैं। तुम्हारा कर्म ही बलवान् है। कर्म

ही सुख-दुःख देनेवाला है। मनुष्य रोग, शोक, ताप भोगता है, कातर होकर देवता को पुकारता है; किंतु उससे उसकी रक्षा का क्या उपाय होता है? अगर देवगण दुःख दूर कर सकते हैं, तो पृथ्वी पर क्यों दुःख-ही-दुःख देख पड़ता है? क्या देवगण निष्ठुर हैं? क्या वे मनुष्यों की यंत्रणा को नहीं जानते, या उनकी पुकार को सुनकर भी नहीं सुनते? निश्चय जानो, कर्म-क्षय हुए बिना यह दुःख-संताप न जायगा। फिर, जो नरों को निरंतर कष्ट देता है, उस ईश्वर को तुम देवता कैसे कहते हो? उसकी प्रसन्नता के लिये क्यों बलिदान करते हो? मेरी बात मानो, आत्मा (मन) पर अधिकार प्राप्त करो, इंद्रिय-संयम में मन लगाओ। हर घड़ी पाप के वर्जन और धर्म के उपार्जन का दृढ़ संकल्प रक्खो। सब प्राणियों को आत्मतुल्य जानो। कभी चित्त में हिंसा को स्थान मत दो। प्रकृति का नियम किसी का पक्षपात नहीं करता। कर्म-फल को किसी तरह अन्यथा नहीं किया जा सकता। पाप-कर्म से बचने का यत्न करो। हिंसा के समान और पाप नहीं है। अहिंसा-व्रत के द्वारा संसार के दुःखों से छुटकारा पाओगे, और शांति के राज्य में प्रवेश करोगे। कामना-पूर्वक देवोपासना भी बंधन है। जब तक कामना का अस्तित्व है, तब तक पाप-मति नहीं दूर होगी। 'अहं-त्वं' का बोध पर-हिंसा की कल्पना करेगा, और उससे यंत्रणा ही

बढ़ेगी। धीर जनों को यत्न-पूर्वक कामना का त्याग करना चाहिए।

काश्यप—प्रभो, सुख-लाभ के लिये यत्न करता हुआ मैं आज तक गहरे अंधकार में भटकता रहा। अब तुम्हारे चरणों की कृपा से मेरी आँखें खुल गईं। कर्म ही सर्वशक्तिमान् ब्रह्म है। कर्म को मैं नमस्कार करता हूँ! अब हिंसा कभी नहीं करूँगा; शास्त्र के वचनों में भूलकर आत्मप्रतारणा नहीं करूँगा; अपने हित की आशा से अन्य जीव की हत्या नहीं करूँगा। हाय-हाय! इतने दिन तक मुझे होश न था। मुझे इसका ध्यान ही न था कि बलि-पशुओं को भी मनुष्य के समान मरण की यंत्रणा होती है, और पर-पीड़न से इष्ट की सिद्धि कभी नहीं होती। इतने दिनों के बाद आज मुझे सनातनधर्म का ज्ञान हुआ।

ब्राह्मण—प्रभो! हम दोनों का भी अपराध क्षमा कीजिए। हमने भी आपकी हिंसा के लिये दस्यु का आश्रय ग्रहण किया था।

बनिया—महात्माजी! कितने दिनों में इस कर्म-फल का खंडन (नाश) होगा?

सिद्धार्थ—'मैं हूँ, मेरा है' इस धारणा का त्याग होते ही कर्म-फल का भी लोप हो जायगा।—तुम सब मेरी बात सुनो। सत्य के उपार्जन से आज तुम्हारा भी कर्तव्य बढ़ गया। जितने मनुष्य अज्ञान के अंधकार में भटक रहे हैं,

उन सबको तुम भी यथाशक्ति ज्ञान का प्रकाश पहुँचाओ, ठीक राह बताओ। सागरपर्यंत यह विशाल पृथ्वीमंडल है। इसमें असंख्य प्राणी हैं, जो महामोह के अंधकार में पड़े भटक रहे हैं। उन सबको यह नवीन प्रकाश दिखाओ, मनुष्य-जाति की दुर्गति दूर करो। चलो, हरएक देश में जाकर यह महामूल्य दुर्लभ रत्न सबको दें।

(सबका प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

स्थान—कपिलवास्तुः वेणुवन

(राजा, गौतमी और मंत्री)

राजा—समझ में नहीं आता मंत्री, तुम यहाँ किस प्रयोजन से हमें ले आए हो? इस घने जंगल के पास तुम्हारा क्या काम है? हे मंत्री! आज मैं मंत्र-मुग्ध की तरह तुम्हारे ही कहने से रानी के साथ यहाँ आया हूँ! इस समय मेरा हृदय वर्तमान को भूलकर भूत-काल में भ्रमण कर रहा है। कितने ही पहले के चित्र स्मृति-पटल में प्रकट हो रहे हैं। मुझे अपने प्रिय पुत्र के मुख का ध्यान आ रहा है। नहीं जानता, वह कहाँ अकेले मारा-मारा फिरता होगा! हाय-हाय, राज-वंशधर आज भिक्षुक बना घूमता होगा! वह मुझे छोड़कर कहाँ गया? आज न-जाने क्यों मन में आप-ही-आप उसके मिलने की आशा उत्पन्न हो रही है!

गौतमी—नाथ, आप सच कहते हैं। न-जाने क्यों मेरा हृदय प्रफुल्ल हो रहा है। मैं रह-रहकर अस्थिर और उत्कंठित हो उठती हूँ। स्तनों में दूध भर आता है। कितनी ही बातें और आशाएँ मन में उठ रही हैं। हृदय कभी हँसता है, कभी रोता है। कभी पहले का शोक हरा हो उठता है, और कभी क्षण-क्षण-भर पर ऐसा जान पड़ता है कि मेरी खोई हुई निधि फिर घर को फिर आवेगी। हाय! आज यह कैसी विडंबना है!

राजा—मंत्री! सच कहो, हमें यहाँ लाने में तुम्हारा क्या अभिप्राय है? अब मुझे संशय में न डाल रक्खो। सच कहो, विलंब न करो, अन्यथा दारुण संशय में प्राण ही निकल जायँगे। मेरा हृदय थर-थर काँप रहा है। जान पड़ता है, जैसे प्राण बाहर निकल आवेंगे। यह क्या—यह क्या! साँस बंद हुई जाती है, मस्तिष्क घूम रहा है। आज यह कैसा विकार नजर आता है!

मंत्री—महाराज! धैर्य धरिए, और सुनिए। इस वन में एक अद्भुत संन्यासी रहते हैं। वह नित्य नगर में आकर भिक्षा करते हैं। अंगों को देखने से लक्षणों से वह कोई राजकुलनंदन जान पड़ते हैं। किंतु, फिर भी, बहुत दिनों से जिनका पता नहीं है, उनका नाम मैं दृढ़ता के साथ नहीं ले सकता। देखिए, दूर पर वह संन्यासी धीरे-धीरे इधर ही आते हैं।

गौतमी—हाँ, हाँ, यही मेरा प्राणाधिक पुत्र है।

राजा—मंत्री ! मुझे सँभालो, सँभालो ! यह सत्य है, या स्वप्न ? मेरी बुद्धि ठिकाने नहीं है । शरीर शिथिल होकर गिरने चाहता है !

मंत्री—महाराज ! धैर्य धरिए ; यह चंचल या अस्थिर होने का समय नहीं है ।—रानीजी ! रानीजी !

गौतमी—महाराज ! मैं कहाँ हूँ ? मेरा पुत्र कहाँ है ?

राजा—मन को स्थिर करो ; पहले सच-झूठ का निर्णय कर लो । सचमुच यह मेरा पुत्र ही है, अथवा उससे मिलता-जुलता हुआ और कोई, यह जान लेना चाहिए ।

गौतमी—यह निश्चय ही मेरा सिद्धार्थ है ! बचपन से मैंने जिसे पाला-पोसा, वह क्या योगी के वेष में मुझसे छिप सकता है ? मैं जाती हूँ, और अपने आँचल की निधि को लिए आती हूँ ।

राजा—हृदय के आवेग को रोको । कहीं इस सहसा-कर्म से राजा का अंतःपुर कलंकित न हो ! मैं पहले परिचय लूँगा । जो बहुत दिनों से लापता है, उसे इस तरह कैसे ग्रहण कर लूँ ?

गौतमी—मुझे कुल की और कलंक की कुछ परवाह नहीं है । मैं अपने पुत्र को गोद में लूँगी ।

राजा—रानी, तुम क्यों इस तरह अधीर हो रही हो ? तुम्हारी ही तरह मेरा हृदय भी पुत्र के लिये अधीर हो रहा है ; तो भी मैं धैर्य धारण किए हुए हूँ ।

(सिद्धार्थ का प्रवेश)

मंत्री—(सिद्धार्थ से) तुम कौन हो, जो संन्यासी के वेष से नगर के मार्ग में घूमते हो? कहो, किस वंश में तुम्हारा जन्म हुआ है? महाराज स्वयं तुम्हारा परिचय जानना चाहते हैं।

सिद्धार्थ—मैं भिक्षुक हूँ; जहाँ-तहाँ पड़ रहता हूँ। मेरा और कुछ परिचय नहीं है।

राजा—(स्वगत) वही स्वर है!—निश्चय ही यह मेरा पुत्र सिद्धार्थ है! (प्रकट) हे संन्यासी! तुम किस विधि के अनुसार, राजपुत्र होकर भी, कुलाचार छोड़कर, भिक्षुक के वेष से भ्रमण करते हो?

सिद्धार्थ—महाराज! मैं वास्तव में राजकुमार नहीं हूँ। पूर्वतन बोधि-वंश में मेरा जन्म हुआ है। कुल-व्रत के अनुसार भिक्षा-पात्र हाथ में लेकर देश-देश में भ्रमण करता हूँ!

राजा—मुझे अपना ठीक-ठीक परिचय दो। मिथ्या बोलने से धर्म का नाश होता है।

सिद्धार्थ—सुनिए नरेंद्र, मेरा कथन मिथ्या नहीं है। मेरा माया-जन्म राजवंश में है, और माया-जन्म के पिता आप हैं। इस तरह माया-जन्म के अनुसार मैं राजकुमार हूँ। स्त्री और पुत्र भी मेरे थे। किंतु ज्ञान-सूर्य का उदय होने से मोह की निद्रा जाती रही, हृदय के नेत्र खुल गए। अब वह स्वप्न नहीं

रहा। मैं चैतन्य ज्ञान को देख चुका हूँ। मैं बोधि-वंश में उत्पन्न नित्य, अविनाशी हूँ। न मेरा जन्म है, न मरण। मैं नाम, धाम और उपाधि से रहित हूँ। मनुष्य-जाति का कल्याण करने के लिये ही द्वार-द्वार घूम रहा हूँ। जो चाहेगा, जो माँगेगा, उसे मैं ज्ञान का प्रकाश दूँगा। संसार में यही मेरा महान् कार्य है।

राजा—बेटा! मैं बहुत दिन रोया हूँ। आओ पुत्र, घर में रहो; राज्य और धन सब तुम्हारा ही है।

गौतमी—बेटा सिद्धार्थ! अपनी माता के हृदय को अब और न व्यथा पहुँचाओ।

सिद्धार्थ—इस वृथा माया-ममता को छोड़ो; यह अमूल्य रत्न ग्रहण करो! उठो, उठो, नींद की खुमारी में मत पड़े रहो। उपाधि को त्यागो, राज्य-धन का खयाल छोड़ो, धर्म में मन लगाओ। निर्वाण-रत्न पाओगे, जन्म-मृत्यु के दुःख-कष्ट से छूट जाओगे। समय निकल जाने पर फिर वह हाथ नहीं आता। ज्ञान की दृष्टि से देखो, यह संसार अनित्य है; कोई किसी का नहीं है।

राजा—ओह! मेरी आँखें खुल गइ! लाओ, मुझे भिक्षा-पात्र दो।

गौतमी—यह क्या? यह कसा नवीन संसार देख रही हूँ? यहाँ तो सर्वत्र आनंद है, सभी आनंदमय है।

मंत्री—आओ शांतिदेवी, मेरे हृदय में वसो ; और, अरे मिथ्या संसार के अभिमान, तू दूर जा ।

सिद्धार्थ—इस नगर में बहुत कार्य है । अंतःपुर में भी मेरा कार्य है—ज्ञान-रत्न देने के लिये मैं प्रतिज्ञा किए हुए हूँ ।

(सबका प्रस्थान)

तीसरा दृश्य

स्थान—राजमहल के अंतःपुर का बाग

(वृत्त के तले सिंहासन के ऊपर सिद्धार्थ का राजवेष रक्खा हुआ है । उसके पास ही गोपा वैठी है)

गोपा—इस तमाल-तरु पर वैठकर कोकिला बोलती थी, और मैं प्राणकांत के साथ उषःकाल की सुनहली छटा देखती थी ! आज प्राणनाथ संन्यासी हैं, तो दासी भी संन्यासिनी है ।—हे सूर्यदेव ! तुम त्रिभुवन को देखते हो ; अनेक देशों में विचरते हो ; क्या तुमने मेरे प्राणेश्वर को देखा है ? भगवन् ! यह शरीर दर्शन की आशा से ही बना हुआ है । न-जाने क्यों, मैं आशा को नहीं छोड़ सकती । यह देखो, मैंने यत्न करके आभूषण रख छोड़े हैं ; अपने हाथ से प्राणनाथ को पहनाऊँगी ।—अरे वृत्त ! मैं तुझे अब भी प्यार करती हूँ । पहले मैं आदर और स्नेह से प्राणनाथ का हाथ हाथ में लेकर तेरे नीचे बैठती थी । उस दृश्य को मैं भूली नहीं हूँ, और न इस जन्म में भूलूँगी । यही कारण है कि मैंने तेरे तले

निवासस्थल बनाया है। मेरा घर तो मुझे मसान-सा जान पड़ता है; क्योंकि प्राणनाथ उसे छोड़कर चले गए हैं।—प्राणनाथ, कहाँ हो ? क्या अभी कार्य पूर्ण नहीं हुआ ? आओ, लौट आओ। मैं यत्न-पूर्वक तुम्हारा श्रम दूर करूँगी। आओ हृदयसर्वस्व, मेरे हृदय में विश्राम करो!—पतिदेव, कहाँ हो ? तुम्हारी सती सेविका कातर होकर तुम्हें पुकारती है। घर में आओ, और उसकी आँखों के आँसू पोंछो, हृदय को शांति दो। मैं तुम्हारे ही स्मरण से प्राणों को बहलाकर अब तक धारण किए हुए हूँ; क्योंकि अगर प्राण निकल जायँगे, तो फिर तुम्हारे दर्शन न पा सकूँगी। आओ, आओ, विलंब न करो, कहीं प्राण निकल न जायँ।

(सिद्धार्थ का प्रवेश, और उन पर गोपा की दृष्टि पड़ना)

प्राणनाथ, इतने दिनों बाद दासी की याद आई ?

सिद्धार्थ—उठो, उठो जीवनसंगिनी! उठो संन्यासिनी! माया-मोह छोड़ो। मन में मनन करके देखो, कितनी बार हमने जन्म लिए हैं! अब की जन्म-मृत्यु का चक्र रुक गया; दुःख-कष्ट चुक गया। सब एकाकार, एकाधार हो गया। निर्वाण-पद में जन्म-मृत्यु का अस्तित्व ही नहीं रहता। क्यों अब खेद करती हो ?

गोपा—खेद अब कहाँ ? सूर्यदेव के दर्शन पाकर कहीं पद्मिनी प्रफुल्लित हुए बिना रह सकती है ? किंतु नाथ, यह

हमारी वियोग-गाथा कभी न समाप्त होगी ; चिरकाल तक विश्व में गाई जायगी। मैं श्रीचरणों में यही भिक्षा माँगती हूँ कि और किसी की ऐसी दशा न हो । जो वियोग-कष्ट मैंने सहा है, वह और किसी स्त्री को न नसीब हो।

सिद्धार्थ—जो कोई यह विच्छेद-गाथा सुनेगा, उसे रोग, शोक या मृत्यु का भय न होगा । उसके हृदय में निरंतर आनंद का प्रवाह बहेगा, और वह परलोक में निर्वाण प्राप्त करेगा।

(राहुल का प्रवेश)

गोपा—आओ वत्स, तुम पिता के धन के उत्तराधिकारी हो। तुम्हारे पिता संन्यासी हैं, और माता संन्यासिनी। तुमको यह राजवेष नहीं सोहता! पितृदेव के दर्शन कर लो, और श्रीचरणों में प्रणाम करके अमूल्य रत्न ग्रहण करो।

राहुल—पूज्य पितृदेव! पुत्र को अपनी संपत्ति दीजिए।— मेरा जन्म सार्थक है, मेरे पिता भुवनपालक हैं।

सिद्धार्थ—(राहुल के हाथ में भिक्षा-पात्र देकर) वत्स, मैंने बड़े पुण्यों से तुम-सा पुत्र पाया है, इसमें संदेह नहीं।

गोपा—(राहुल को संन्यासी का वेष पहनाती हुई) मैं माता होकर तुमको संन्यासी का वेष धारण कराती हूँ। बेटा! मणि-कांचन के आभूषण छोड़कर पिता का धन ग्रहण करो। यह

वह देव-दुर्लभ रत्न है, जो चक्रवर्ती राज्य के बदले में भी नहीं पाया जा सकता।

(राजा, गौतमी, बालकगण और शिष्यों का प्रवेश)

बालकगण—भाई राहुल, हम तुम्हारे साथ चलेंगे।

राहुल—आओ भाइयो! हम सब यहीं की तरह नित्य-धाम म भी क्रीड़ा करेंगे!

(सिद्धार्थ, गोपा और राहुल को घेरकर सब गाते हैं)

गान

देश-देश में घूम-घूमकर आओ करें प्रचार।
जरा, मरण, भव का न रहा भय, सहज हुआ उद्धार;
क्रांति शांतिमय, भ्रांति मिटाकर, सजग करे संसार।
करुणा-सिंधु, भक्त-वत्सल का है उपदेश उदार;
निर्विकार, निर्लिप्त, निरंजन, धन्य बुद्ध-अवतार।

(यवनिका-पतन)